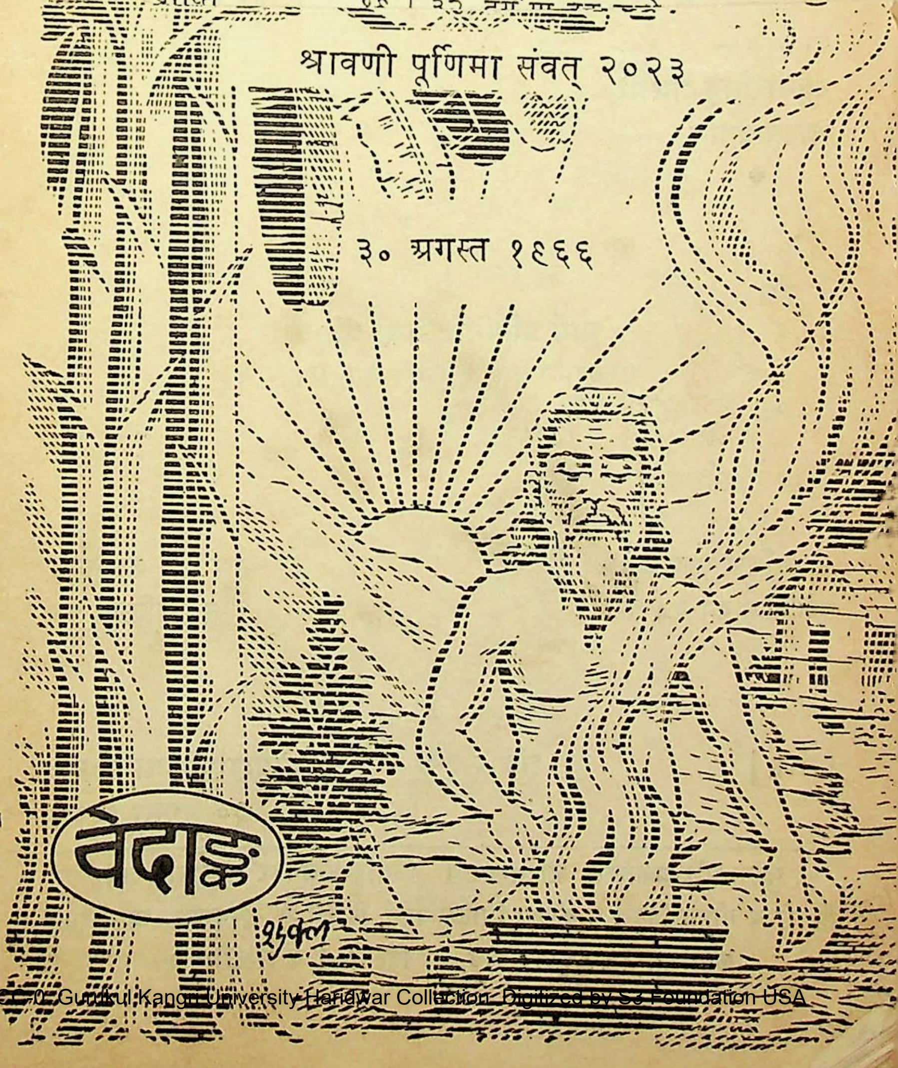
इस अंक में पढ़िए

श्रावणी पूर्णिमा संवत् २०२३

३० अगस्त १९६६



वेदाङ्क

सम्पादक—
रघुवीरसिंह शास्त्री
भारतेन्द्रनाथ

*

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब
गुरुदत्त भवन जालंधर का प्रकाशन

*

वार्षिक मूल्य ८)
एक अंक का २० पैसे

*

इस अंक का मूल्य
२) सजिल्द ३)

वर्ष ९] अंक २-३-४ श्रावण पूर्णिमा २०२३
३० अगस्त १९६६

मुद्रक और प्रकाशक भारतेन्द्रनाथ "साहित्यालंकार" द्वारा रायसीना प्रिंटरी व मोहन प्रिंटर्स व कृष्णा प्रिंटिंग वर्क्स दिल्ली से छपवाकर 'आर्योदय' कार्यालय १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली–१ से प्रकाशित।

इस अंक में पढ़िए

Vedic Sandhya Prayer Havan mantra and Ishopanishad.

अंक के लेखक

इस अंक में प्रकाशित लेख १-२-३-४-७ महर्षि दयानन्द सरस्वती के हैं। संख्या ६ महर्षि दयानन्द सरस्वती भाष्य की व्याख्या पर संसद् सदस्य श्री जगदेव सिंह सिद्धान्ती की टिप्पणी है।

संख्या ८-१०-१२-१३-१४-१५-१६-१७-१८-२०-२१-२२-२३-२४-२५ २६-२७—स्वर्गीय श्री स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती द्वारा वेद मन्त्रों की व्याख्याएँ हैं। संख्या २८-३०-३१-३२-४९-५०-५१-५२-५३ श्री पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय के द्वारा लिखे गए हैं।

संख्या ३३-३४-५४ श्री पं० दामोदरजी सातवलेकर द्वारा प्रस्तुत हैं।

संख्या ३५-३६-३७ श्री पं० प्रियव्रत जी वेद वाचस्पति आचार्य गुरुकुल कांगड़ी द्वारा लिखित हैं।

संख्या ३८-३९-४०-४१-४२-४४ आचार्य अभयदेव जी भू० पू० आचार्य गुरुकुल कांगड़ी की रचनाएँ हैं।

संख्या ४६ पण्डित सत्यपाल शर्मा एम. ए. द्वारा और सँख्या ४७ पं० दीनानाथ जी सिद्धान्तालंकार द्वारा लिखित है।

संख्या—५-९-११-१६-२९-३६-४३-४५-४८ स्व० पं० अयोध्या नाथ रिसर्च स्कालर द्वारा किए हुए अर्थ हैं।

संध्या-हवन मन्त्र व ईश्वर प्रार्थना के मन्त्रों का अंग्रेजी अनुवाद स्वामी भूमानन्द जी सरस्वती एम. ए. का और ईशोपनिषद् का अंग्रेजी का अनुवाद स्व० पं० गुरुदत्त जी की अमर कृति है।

हम हृदय की समस्त शुभ भावनाओं के साथ सभी विद्वानों के और जिन पुस्तकों से यह लेख लिए गए—उनके प्रकाशकों के कृतज्ञ हैं। हमें विश्वास है कि 'वेद' सन्देश को प्रसारित करने की उदात्त भावना से लिखे विद्वानों के श्रम और लक्ष्य को पाठकों के हृदय में नयी प्रेरणा से यह उत्साह श्रद्धा उत्पन्न करने में समर्थ होंगे।

हार्दिक धन्यवाद विद्वान लेखकों का प्रकाशकों का। भूलें जो रह गई हैं उनके लिए हम क्षमा प्रार्थी हैं।

—सम्पादक

युग की आवश्यकता

संसार के सभी विद्वान एक स्वर से यह स्वीकार करते हैं कि संसार के पुस्तकालयों में सबसे पुराना ग्रन्थ 'वेद' है।

जैसे घर में वृद्ध का सर्वाधिक आदर होता है और उसका आदेश सभी कल्याणकारी समझ शिरोधार्य करते हैं, उसी भाँति सृष्टि के ज्ञान में वयोवृद्ध होने के कारण 'वेद' के निर्देश सभी के कल्याण का कारण हैं। 'वेद' के अतिरिक्त अन्य जितने भी तथा कथित धर्म-ग्रन्थ कहे जाते हैं वे सभी—

१. व्यक्तियों की गाथाओं से भरे हैं।
२. पक्षपात और देश काल के प्रभाव से युक्त हैं।
३. विज्ञान और सृष्टि क्रम की प्रत्यक्ष बातों का विरोध करते हैं।
४. मानव मात्र के लिए समान रूप से कल्याणकारी मार्ग का निर्देशन नहीं करते।
५. विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा वर्ग विशेष के लिए बनाए गए हैं।

किन्तु 'वेद' इन सभी बातों से ऊपर उठकर—

१. मनुष्य मात्र को समान समझ कर मार्ग का निर्देश करता है।
२. वह 'सत्य' को सर्वोपरि मानता है।
३. विज्ञान, युक्ति, तर्क और न्याय के विपरीत उस में कुछ भी नहीं है।
४. उस में किसी देश, व्यक्ति, काल का वर्णन न होकर ऐसे शाश्वत मार्ग का निर्देशन है जिससे मनुष्य-मस्तिष्क की सारी उलझी गुत्थियां सुलझ सकती हैं।
५. वेद, लौकिक, पारलौकिक उन्नति के लिए समान रूप से प्रेरक हैं। उसकी शिक्षाएँ सर्वांगीण हैं इसी लिए आधुनिक युग के महान

द्रष्टा और ऋषि—महर्षि दयानन्द ने कहा है कि—

'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है' । और यह भी बताया कि प्रत्येक श्रेष्ठ बनने के इच्छुक व्यक्ति को **"वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना परम धर्म"** समझ कर शान्ति और आनन्द के मार्ग पर चलने का यत्न करना चाहिए ।

आज के युग के मनीषी अणु और उद्रजन विस्फोटकों की अनन्त शक्ति के विकास के लिए यत्नशील हैं । अन्तरिक्ष की खोज उनके प्रयत्नों की सीमा है, किन्तु 'मनुष्य' जो इस भूमि का 'भोक्ता' है, निरन्तर अशान्ति, चिन्ता और पीड़ा के गह्वर गर्त में गिरता जा रहा है । धर्म के नाम पर अधर्म के प्रसार ने विचारकों के मस्तिष्क में धर्म के प्रति तीव्र घृणा भर दी है । वस्तुतः कुरान, पुराण, बाईबिल आदि पुस्तकों ने 'धर्म' को इतने अधिक घृणित रूप में उपस्थित किया है कि कोई भी बुद्धि जीवी इन्हें देखकर इस मार्ग को ही छोड़ देता है ।

ऐसी विषम स्थिति में संसार को विनाश और मृत्यु से बचाने के लिए लुप्त होती हुयी उसी महान् ज्ञान-राशि 'वेद' का पुनरुद्धार कर महर्षि दयानन्द ने मानवता को अमर संजीवनी प्रदान की । धर्म के जर्जर रूप को त्याज्य बताकर "धर्म" को जीवन का अनिवार्य अंग बताया और स्पष्टतया यह घोषणा की कि जीवन का उत्थान, निर्माण और शांति आनन्द का उदात्त मार्ग केवल 'वेद' की ऋचाओं में वर्णित है ।

महर्षि महान क्रांतिकारी थे । वे धरती के अज्ञान को जला देना चाहते थे । मत-वादों के विष वृक्ष को मिटा देना उनका इष्ट था । यह इसलिए नहीं कि उनका किसी से द्वेष-विरोध था, अपितु इसलिए कि वे किसी को भी असत्य मार्ग पर चलते नहीं देख सकते थे ।

इसलिए सबके सब विधि कल्याण का मार्ग उन्होंने 'वेद' का

आदेश मानकर जीवन निर्माण बताया । अपने पश्चात् अपनी इच्छा को मूर्त रूप देने के लिए आर्य समाज संगठन बनाया ।

आर्य समाज का लक्ष्य-उद्देश्य भी केवल 'वेद' की भावनाओं का प्रचार है । वह मानव मात्र तक 'वेद' के पावन सन्देश को पहुँचाने के लिए कृतसंकल्प और कटिबद्ध हैं ।

आज युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है कि संसार के मस्तिष्क, बुद्धिजीवी, राजनीतिज्ञ यह अनुभव करें कि विज्ञान और भौतिकता का यह प्रवाह संसार से सत्य और शान्ति, आनन्द को सर्वथा ही समाप्त कर देगा । अतः सभी गम्भीरता से स्थिति को समझें और विचारें—

१. यह शरीर ही सब कुछ नहीं । इसमें जो जीवन तत्व 'आत्मा' है, उसकी भूख, प्यास की चिन्ता किए बिना मनुष्य कभी मनुष्य नहीं बन सकता ।

२. संसार में एक धर्म है—'सत्य' । वह सत्य सृष्टि क्रम, विज्ञान-सम्मत और मानव मन को आनन्द देने वाला हो ।

३. मनुष्य की केवल एक जाति है-'मनुष्य' । मनुष्य के बीच कोई भी जातिवर्ण-वर्ग–देश की दीवार खड़ी करना जघन्यतम अपराध है जो भी इन तथ्यों पर विचार करेंगे वे निश्चित रूप से इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि—

केवल 'वेद' ही ऐसा ज्ञान है जो उक्त मान्यताओं को पुष्ट करता है ।

अतः धरती को स्वर्ग बनाने के लिए 'वेद' का प्रचार-प्रसार और उन पर आचरण परमावश्यक है ।

इसी उद्देश्य से 'श्रावणी' के पावन पर्व पर 'वेद' से परिचय कराने के लिए यह छोटा सा विशेषांक हम पाठकों को भेंट कर रहे हैं । इस अंक में महान् ज्ञान-समुद्र की कुछ बूँदें पाठकों के समक्ष मान्य विद्वानों के श्रम से चुनी हुई प्रस्तुत हैं । यदि इन्हें पढ़कर ५-१० व्यक्तियों के मन में भी 'वेद' को जानने की भावना उत्पन्न हुयी तो

हम समझेंगे हमारा प्रयत्न सफल हुआ ।

कुछ अनिवार्य कारणों से यह अंक उस रूप में हम भेंट नहीं कर पा रहे, जैसा हम चाहते थे । फिर भी हमारी प्रार्थना है कि पाठक गण भावों की उच्चता और पवित्रता ग्रहण कर हमारी त्रुटियों के लिए हमें क्षमा करें ।

आर्य बंधुओं से !

आर्यजन ! आप प्रति सप्ताह वेद-प्रचार सप्ताह मनाते हैं किन्तु अभी कार्य बहुत शेष है । हमारा आप से आग्रह है कि आप अपनी पूरी शक्ति के साथ 'वेद-प्रचार' के कार्य में जुट जाएँ । 'वेद' का प्रचार प्रसार और उस पर आचरण ही हमारी सारी गतिविधियों का केन्द्र होना चाहिए ।

'वेद' को हम जहाँ तक भी पहुँचा देंगे वहाँ प्रकाश स्वयं फैल जाएगा इसलिए अन्धकार की समाप्ति का सङ्कल्प धारण कर सभी आर्य श्रावणी पर, पावन यज्ञवेदी पर बैठ 'वेद' के प्रचार का व्रत लें । यह हमारी इच्छा है ।

हमें विश्वास है कि 'मानव' को 'मानव' बन कर धरती पर यदि जीना है तो आज या कल उसे 'वेद' की शरण में आना ही होगा ।

प्रभु कृपा करें कि वह दिन शीघ्र आए ।

क्या आप के घर में 'वेद' है ?

'वेद' हमारे धर्म ग्रन्थ हैं । फिर भी वह हमारे घरों में न हों तो यह सभी के लिए अत्यन्त लज्जा की बात है ।

हमारा आग्रह है कि प्रत्येक "आर्य" श्रावणी के दिन "वेद" की एक प्रति अवश्य घर लाए ।

'वेद' का स्वाध्याय हमारा परम कर्तव्य है । घर में 'वेद' ही न होगा तो हम स्वाध्याय किस का करेंगे ? 'वेद' को जानेंगे नहीं तो 'वेद प्रचार' कैसे करेंगे ? अतः सारे कार्य को छोड़कर श्रावणी के दिन 'वेद' की एक प्रति अवश्य घर में लाइए ।

—भारतेन्द्र नाथ

वेद ही क्यों ?

— आचार्य उदयवीर शास्त्री

*

आज के तथाकथित प्रगतिशील युग में धर्म की बात करना बेकार और उपहासास्पद समझा जा सकता है; पर ऐसा समझने वालों को यह कभी न भूलना चाहिये, कि जब से मानव ने आँखें खोली हैं, आज तक धर्म को चुनौती नहीं दी जा सकी, धर्म का स्रोत निरन्तर प्रवाहित है, प्रवाहित रहा है, और सदा अक्षुण्ण प्रवाहित रहने की सम्भावना है। धर्म को चुनौती की घोषणा करने वाले नास्तिकों की संख्या सदा बहुत कम रहने पर भी इनकी आवाज़ हमेशा बुलन्द रही, पर धर्म का स्रोत न सूखा, न कम हुआ। **'ईश्वर बहुत पहले मर चुका है ?'** कहने वालों का दुनिया के पर्दे पर आज नाम निशान नहीं, पर उसका निज़ाम उसी रूप में बिना किसी उथल-पुथल के बराबर चालू है। इस अभेद्य चट्टान के साथ न मालूम कितने जूझ गये, पर यह सूर्य, चन्द्र को साक्षी करती हुई उसी तरह निर्बाध खड़ी है।

फिर भी यह विचार करना आवश्यक है, कि ऋग्वेद आदि संहिताएँ ही धर्म के मूलस्रोत क्यों ? गम्भीरता से देखा जाय, तो धर्म का मूल स्रोत वही होना चाहिए, जिसका प्रादुर्भाव मानव के प्रादुर्भाव के साथ हुआ हो। आज तक किसी अन्य धर्म-पुस्तक ने सृष्टि के आरम्भ में होने का दावा नहीं किया। पारसियों का धर्मग्रन्थ **'जेन्दावस्ता'** लगभग चार हज़ार वर्ष पुराना माना जाता है। आज तक कोई प्रमाण ऐसे उपलब्ध नहीं हो सके, जिनके आधार पर यह ग्रन्थ इतने समय से अधिक पुराना सिद्ध हो सके। होली **'बाईबिल'** का काल अधिक से अधिक १९६६ वर्ष पुराना माना जा सकता है। यद्यपि अनेक विचारशील विद्वानों ने इसमें भी सन्देह प्रकट किया है, कि बाईबिल का कोई

अंश महात्मा क्राइस्ट के जीवनकाल में बन गया हो। 'कुरान शरीफ़' को बने तो अभी १४०० वर्ष भी पूरे नहीं हो पाए हैं। ईश्वरीय ज्ञान का दावा करने वाले अन्य धर्मग्रन्थों की यही अवस्था है। पर वेदों की दशा इससे सर्वथा विपरीत है। इसमें तो सन्देह ही नहीं किया जा सकता, कि वेद इन सबसे प्राचीन हैं। यह परिस्थिति इस सिद्धान्त को बल देती है, कि सृष्टि के आदि में मानव के प्रादुर्भाव के साथ वेदों का प्रादुर्भाव होना अधिक सम्भव है।

आधुनिक विद्वानों ने इस विषय में विभिन्न आधारों पर विचार किया है तथा अपने विचारों के अनुसार विभिन्न कालों में वेदों के प्रादुर्भाव को स्वीकार किया है। इन निर्देशों का यही महत्व है, कि एक नवीन जिज्ञासु के लिये इस विषय में सन्देह पैदा करने के लिये इसका अच्छा सहयोग रहता है। काल की यह सीमा अब से लगभग तीन सहस्र वर्ष पूर्व से लगाकर दस सहस्र वर्ष पूर्व तक मानी गई है। इनमें से कोई लेख ऐसा नहीं, जो अन्य लेखों को अभिभूत कर अपनी महत्ता को स्थिर रखने में समर्थ कहा जा सके। फलतः इस विषय पर विचार करने के लिये मार्ग खुला रहता है।

कुछ वर्ष पूर्व सिन्धु प्रदेश के लरकाना ज़िले में सिन्धु नदी के तट के एक खेड़े की खुदाई की गई। यह स्थान अब **'मोहिंजो दाड़ो'** के नाम से प्रसिद्ध है, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है—मरे हुओं का ढेर। इस खुदाई में अनेक अद्भुत वस्तुओं की उपलब्धि हुई, और एक अति उन्नत, नगर के खण्डहर वहाँ देखे गये। इस पर पर्याप्त साहित्य लिखा जा चुका है। उत्खनन अधिकारियों ने निर्णय किया, कि यह नगर अब से लगभग छह हज़ार वर्ष पूर्व रहा होगा। उन्होंने यह भी बताया, कि यह नगर आर्यों के भारत में आने से पूर्वकाल का है। इसलिये यह आर्यों के धर्म ग्रन्थ वेदों की सभ्यता से पूर्ववर्ती किसी सभ्यता को मानने वाले व्यक्तियों का बसाया हो सकता है। इस स्थान के वर्तमान सिन्धु देश में होने के कारण इसको **'सिन्धु सभ्यता'** का नाम दिया गया।

वहाँ से जो सामग्री उपलब्ध हुई हैं, उसमें अनेक प्रकार की धातु व पक्की मिट्टी की प्लेट तथा बर्तन आदि भी हैं। उनमें से अनेकों पर जो लिपि अंकित है, वह अभी तक भी पूर्ण रूप से पढ़ी नहीं गई। उस खेड़े को उत्खनन कराने

वाले अधिकारी लिपि को पढ़ने में सर्वथा असफल रहे। उस समय उन्होंने उक्त सामग्री के आधार पर जो कल्पनाएँ कीं, वे अधिकतर निराधार हैं। कारण यह है, कि उल्लेखों के आधार पर जो यथार्थ निर्णय लिये जाते, उस लाभ से वे अधिकारी सर्वथा वञ्चित रहे। इस कथन में भी कोई निश्चित प्रमाण नहीं है कि वह नगर अब से छह हजार वर्ष पूर्व रहा होगा। उससे और सहस्रों वर्ष पूर्व भी उसकी स्थिति हो सकती है। कहने वालों का कदाचित् यही तात्पर्य रहा हो, कि वह छह हज़ार वर्ष पूर्व से इधर का नहीं माना जाना चाहिये। यह अब अनुसन्धान का विषय है, कि उसे और कितना पूर्व माना जाना सम्भव है।

यह कथन भी अब निराधार सिद्ध हो गया है, कि तथा कथित **'सिन्धु सभ्यता'** वैदिक सभ्यता से पूर्व की है। **'मोहिंजो दाड़ो'** की लिपि को किसी अंश तक अब पढ़ लेने में सफलता प्राप्त कर ली गई है। तथा आगे पूर्ण रीति पर पढ़ने व समझने का प्रयास चालू है। इस दिशा में श्री टी०आर० रामचन्द्रन् तथा श्री डॉ० सुधांशु कुमार रॉय के प्रयत्न अभिनन्दनीय हैं। विद्वानों ने यह पता लगा लिया है, कि वहाँ की अनेक प्रदर्शित वस्तुओं पर ऋग्वैदिक मन्त्रों के अंश उल्लिखित हैं। इसके अतिरिक्त वहां **'ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद'** इन नामों का उल्लेख भी उपलब्ध हुआ है। ये प्रमाण इस तथ्य के निश्चायक हैं, कि उक्त ध्वस्त नगर के निवासी वेदों से परिचित थे, तथा वैदिक सभ्यता के ही अनुयायी थे। इस रीति पर भी वेदों का अस्तित्व अति प्राचीन काल में सिद्ध होता है।

आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने किन्हीं नियत भावनाओं से अभिभूत होकर सदा यह प्रचार करने का प्रयत्न किया है, कि भारत में आर्य कहीं बाहर से आये, और वह भी अब से लगभग चार, पाँच हज़ार वर्ष पूर्व; वेदों की रचना उसके अनन्तर ही हुई। ये सब कथन कितने असत्य, मक्कारी से भरे और निराधार हैं, इन पर अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। भारतीय साहित्य में आर्यों का आदिकाल से आर्यावर्त्त व भारत में निवास तथा लाखों वर्षों का इतिहास सुरक्षित है। आँख खोल कर देखने वाला चाहिये, अन्धे को दिखलाया जाना सम्भव नहीं।

वेद सृष्टि के आदि में प्रादुर्भूत हुए, इस भारतीय मान्यता को असत्य सिद्ध करने का प्रयास करते हुए पाश्चात्य विद्वानों ने कई प्रकार के प्रश्न उठाये। उनमें एक बड़ा प्रश्न यह भी रहा है, कि सृष्टि के आदि में परमात्मा ने मनुष्य को क्या मुख के द्वारा वेदों का उपदेश दिया? यह प्रश्न लेखक स्वयं अपने उन भारतीय भाईयों के मुख से सुनता रहा है, जिन्होंने आदि से अन्त तक अंग्रेज़ी ढंग से शिक्षा प्राप्त की, और अपने घर का जिन्हें कुछ पता नहीं। निश्चित है, कि परमात्मा ने आदि सर्ग में मनुष्य को मुख द्वारा उपदेश नहीं दिया, क्योंकि उसका न कोई भौतिक शरीर है, न मानव आदि की तरह का भौतिक मुख। तब प्रश्न होता है, उपदेश कैसे दिया? अभिप्राय यह है, कि क्या जैसे गुरु शिष्य को उपदेश करता है, ऐसे ही परमात्मा आदि सर्ग में मानव को वेदों का उपदेश करता है? अथवा अन्य कोई प्रकार है? परमात्मा का भौतिक देह न होने से उपदेश का कोई अन्य ही प्रकार हो सकता है। इस लेखक ने लोगों को यह कहते भी सुना है, कि क्या परमात्मा ने आसमान से रस्से बांधकर वेदों की पुस्तकें लटका दी होंगी? वहां किस तरह वे वेद छपे या लिखे गये होंगे, और कहां कागज़ का कारख़ाना रहा होगा, नहीं तो वे वेद किस पर लिख कर उतारे गये? ऐसी तर्कहीन बाज़ारू बातें लोग बड़े गर्व के साथ करते रहे हैं।

वास्तविकता यह है, ज्ञानलवदुर्विदग्ध मानव ने अपने अज्ञान की ओर कभी झांक कर नहीं देखा, और वह उन चीज़ों को चुनौती देता रहा है, जिनके विषय में उसे अणुमात्र भी जानकारी नहीं है। उस समय के पाश्चात्य पादरियों का ऐसा उपहासपूर्ण कथन कर उन प्रभावों को उत्पन्न करने का उद्देश्य रहा है, जिनसे साधारण भारतीय अपनी तथ्यपूर्ण मान्यताओं से भी विमुख किये जा सकें। आज का वैज्ञानिक इस ढग की बात करते हुए सकुचाता है। वह इस तथ्य को समझ सका है, कि एक मनुष्य अपनी प्रबल इच्छा शक्ति के प्रभाव से दूसरे मनुष्य को यथाभिलषित ज्ञान दे सकता है, और उससे इच्छानुसार कार्य करवा सकता है। यह एक विज्ञान सिद्ध सत्य है। सोचना चाहिये, जब एक साधारण मनुष्य अपनी इच्छाशक्ति के बल पर दूसरे को यथेष्ट ज्ञान प्राप्त करवा सकता है, तो अनन्तशक्ति परमात्मा को आदि सर्ग में अपनी इच्छाशक्ति के बल पर मानव को अपेक्षित ज्ञान देने में क्या बाधा हो

सकती है ? वैदिक ऋषियों ने इस तथ्य को समझा, और उस परम्परा को स्थिर रखते हुए उसका विवरण दिया।

यद्यपि भारतीय वाङ्मय में यह तथ्य अनेकत्र विस्तार के साथ प्रस्तुत है, पर संक्षेप की भावना से हमने यहां केवल एक स्थल का उल्लेख कर देना पर्याप्त समझा है। वेदान्त दर्शन के प्रारम्भिक तीसरे चौथे सूत्र में इस अर्थ का निर्देश है। द्वितीय सूत्र द्वारा बताया गया है कि इस सब जगत् की उत्पत्ति स्थिति तथा प्रलय का कर्ता परब्रह्म परमात्मा है। यह जगत् दो भागों में विभक्त है—रूप और नाम। जो कुछ वस्तु तत्त्व है, वह रूपात्मक जगत् है। इसके व्यवहार के लिये वाणी का जो व्यापार अथवा प्रयोग है, वह '**नाम**' है। एक '**वस्तु**' एक उसका '**नाम**'। एक '**अर्थ**' और एक '**शब्द**' इन दो प्रकारों में समस्त सृष्टि का समावेश है। जैसे ब्रह्म के द्वारा रूप का निर्माण किया गया, वैसे '**नाम**' का। वेदान्त सूत्रकार ने '**जन्माद्यस्य यतः**' सूत्र द्वारा ब्रह्म से रूपात्मक जगत् की उत्पत्ति आदि के समान '**नाम**' जगत् की उत्पत्ति भी ब्रह्म से बताने के लिये तीसरा सूत्र कहा—'**शास्त्रयोनित्वात्**' शास्त्र अर्थात् ऋग्वेद आदि का कारण होने से ब्रह्म का अस्तित्व सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि ऋग्वेद आदि शास्त्र का प्रादुर्भाव सृष्टि के आदि में परब्रह्म परमात्मा के द्वारा हुआ है।

ऋग्वेद आदि शास्त्र समस्त सत्य विद्याओं के मूल स्थान हैं। लौकिक अलौकिक ज्ञानों का उपबृंहण उन्हीं के आधार पर हुआ है, ये सूर्य के समान समस्त अर्थों के प्रकाशक हैं। इनको सब सत्य ज्ञानों का आधार कहा जाय; तो अत्युक्ति नहीं। ऐसे सर्वज्ञकल्प ऋग्वेदादि शास्त्र का प्रादुर्भाव सर्वज्ञ सर्वशक्ति परब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी के द्वारा होना सम्भव नहीं। लोक में यह देखा जाता है, कि ज्ञेय अर्थ के किसी एक अंश का प्रतिपादन करने के लिये किसी विशेषज्ञ आचार्य के द्वारा जब उस विषय की कोई रचना प्रस्तुत की जाती है, तो रचना के यथासंभव सर्वांगपूर्ण होने पर भी रचयिता आचार्य का ज्ञान अवश्य उसकी अपेक्षा अधिक रहता है, तब यह ऋग्वेदादि शास्त्र—जिसका ऋषियों ने व्याख्यान रूप से अनेक शाखाओं में विस्तार किया, जिनमें जड़ जगत्, तथा चेतन देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, कृमि आदि, एव मानव समाज के वर्णाश्रम धर्म आदि का विस्तृत वर्णन है, और जो अन्य सब प्रकार की सत्यविद्याओं की खान हैं—पुरुष के श्वासोच्छ्वास के समान अनायास उस महान् सर्वशक्ति सम्पन्न सर्वज्ञ चेतन परब्रह्म से प्रादुर्भूत हुआ, यही माना जाना सम्भव है।

पृथिव्यादि जगत् का कारण ब्रह्म को बताये जाने पर यह आशंका की जा सकती है, कि जगत् केवल जड़ कारण से उत्पन्न हुआ क्यों न माना जाय ? तब ब्रह्म नाम के किसी, चेतन तत्त्व को मानना अनावश्यक होगा। इस भावना से प्रेरित होकर सूत्रकार ने इस तृतीय प्रस्तुत सूत्र द्वारा प्रकट किया, कि जो जगत् के जन्मादि का कारण है, वही सर्वज्ञ गुणान्वित ऋग्वेदादि शास्त्र के प्रादुर्भाव का कारण है। वेद ज्ञानरूप है, इसलिये उनके प्रादुर्भाव का कर्ता चेतन ही सम्भव हो सकता है। केवल जड़ तत्त्व से स्वत: जगत का निर्माण सम्भव नहीं; अत: जन्मादि सूत्र [१।१।२] में विश्व के कारण जिस ब्रह्मतत्त्व के अस्तित्त्व का निर्देश है, वह चेतन तत्त्व है, उसकी प्रेरणा से प्रकृति रूप जड़ उपादान दृश्यादृश्य जगत् के रूप में परिणत होते हैं, इससे जगत् के रूप-नामात्मक विस्तार का कारण अधिष्ठाता व नियन्ता चेतन ब्रह्म सिद्ध होता है।

इस विषय में पुन: यह आशंका की जा सकती है, कि सम्भव है, जगत् की रचना आदि का कारण ब्रह्म हो, पर यह कैसे समझें, कि ऋग्वेदादि शास्त्र का प्रादुर्भाव जगत्कर्ता ब्रह्म के द्वारा हुआ ? इनकी रचना अनेक साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों द्वारा हुई मानी जा सकती है। तब शास्त्र को ब्रह्म के अस्तित्व में प्रमाण मानना भी संगत न होगा। सूत्रकार ने इस आशंका का समाधान चौथे सूत्र से इस प्रकार किया— **तत्तु समन्वयात्।**

वह तो समन्वय से ज्ञात होता है। जगत् का कर्ता और ऋग्वेदादि शास्त्र के प्रादुर्भाव का कारण एकमात्र परब्रह्म है, यह तथ्य जगत् और ऋग्वेदादि शास्त्र के समन्वय से समझा जा सकता है। इन दोनों का समन्वय-पारस्परिक सामञ्जस्य इस बात को स्पष्ट करता है, कि इनका रचयिता एक है। ब्रह्म के बनाये जगत् और ब्रह्म के द्वारा प्रादुर्भूत वेद में परस्पर समन्वय है, सामंजस्य है; इनमें एक दूसरे के प्रति किसी विरुद्ध अर्थ का अस्तितत्व नहीं देखा जाता। इस विषय में यह कहा जा सकता है, जो ईश्वरीय ज्ञान शब्दरूप में वेद हैं, वह प्रयोगात्मक स्थिति में जगत् है। इस ज्ञान की दो अवस्थाएँ हैं—सिद्धान्त और प्रयोग।

इनका पारस्परिक सामञ्जस्य इनके एक कर्ता के अस्तित्व को सिद्ध करता। है इसके अनुसार शास्त्र में कोई ऐसा वर्णन नहीं होना चाहिये. जो सृष्टिक्रम के विरुद्ध हो। शास्त्र से सृष्टिरचना का बोध होता है, तथा

प्रतिभाशील एवं साक्षात्कृतधर्मा मानव के द्वारा प्रस्फुटित सृष्टिरचना की जानकारी से पर्याप्त सीमा तक शास्त्र की परीक्षा की जा सकती है; जो विवेचक को समान परिणाम पर पहुँचाती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि विश्व की उभयविधि नाम-रूपात्मक रचना का एकमात्र कर्ता ब्रह्म है। **'नाम'** शब्द है, जो ऋग्वेदादि रूप रचना है, और **'रूप'** अर्थ है, जो पृथिव्यादि जगदात्मक रचना है।

सृष्टि रचना एक महान् रहस्य है, मानव की पहुँच से परे। फिर भी आदिकाल से प्रतिभासम्पन्न मानव इस रहस्य के उद्घाटन का यथासंभव प्रयास करता रहा है, और पर्याप्त सीमा तक उसके रहस्य को समझने में सफल हुआ है। यह प्रयास अज्ञात काल से चला आ रहा है, अब भी चालू है और आगे इसी प्रकार अज्ञातकाल तक चलता रहेगा। यह स्थिति इस बात को स्पष्ट करती है, कि मानव उसे पूर्णरूप से समझने में असफल है, पर जो कुछ समझ पाया है, वह कम नहीं है। वह इतना आवश्यक है, कि उसके आधार पर शास्त्र को सन्तुलित किया जा सके। वह बटलोई से एक दो चावल देखकर उसके समान शेष का अनुमान लगा लेने के समान है। भारतीय दर्शन में सृष्टि रचना विषयक जो वर्णन हैं, वे सांख्य विचारों में अपनी पूर्ण अवस्था तक पहुंचे हैं। आधुनिक विज्ञान ने इस विषय में जिन रहस्यों का उद्घाटन किया है, उससे वर्त्तमान संसार आश्चर्यचकित है। गंभीर विचारक इस परिणाम पर पहुंच जाता है, कि यह प्रयास उस विचार सीमा में प्रवेश कर गया है, जिसको सांख्य ने प्रस्तुत किया। इससे किसी की अल्पता या महत्ता को प्रकट न करने की भावना के साथ हमारा केवल इतना तात्पर्य है, कि इस सन्तुलित जानकारी के अनन्तर हमें यह अनुभव होता है, कि अवश्य हम इस दिशा में किसी सच्चाई के आसपास पहुँच रहे हैं।

मुख्य सृष्टिविषयक जो संकेत ऋग्वेदादि शास्त्र में उपलब्ध होते हैं; यह हमारे लिये एक आश्चर्य की बात है, कि वे उसी दिशा का निर्देश करते हैं, जिसे सृष्टिविज्ञान वेत्ताओं ने पुराने या नये समय में सुझाया है। वस्तुतः इस दृष्टि से इन शास्त्रों का गंभीर अध्ययन यथावत् नहीं हुआ। प्राचीनकाल में कपिलादि ऋषियों ने इस दिशा में प्रयास किया, उस तत्व-

ज्ञान को वहां से छानकर लोक कल्याण की भावना से दर्शन रूप में प्रस्तुत
किया ।

कहा जा सकता है, कि वर्त्तमान विज्ञानवित् की खोजों का आधार वेदादि
शास्त्र नहीं है, तब उनकी क्या विशेषता रह जाती है ? इस विषय में यह
समझना चाहिये, कि सिद्धान्त सदा रहते हैं, शास्त्र उनका मूल है । शास्त्र की
परम्परा अज्ञात काल से चली आ रही है, प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति ने
इसको स्वीकार किया है । हमने उसको चाहे समझा या न समझा, पर शास्त्र
की अपनी निम्नोन्नत अवस्था विभिन्न कालों में सदा अक्षुण्ण रही है ।
हमारा उससे सम्पर्क सीधा रहा या परम्परा से, फिर भी हमारी सच्ची
विचारधारा ने उसे कभी लांघा नहीं । हमारी ज्ञानगति उसी सीमा में
चक्कर काटा करती है । मानव ने सदा उसी तत्त्व को गाया है, चाहे वह
किसी रूप में गाया गया हो । आधुनिक समस्त विज्ञान उसकी एक तुच्छ कला
है, उसमें कुछ भी नवीन निर्माण नहीं; जो सब निर्मित है, उसका ही मान-
वोचित उपयोग है, चाहे वह सदुपयोग हो या दुरुपयोग । फलतः इस विषय
के शास्त्रीय संकेत अवश्य माननीय हैं ।

ऋग्वेदादि शास्त्र में अनेकानेक प्रसंग सृष्टि रचनाविषयक उपलब्ध हैं,
उनको विज्ञान सृष्टिक्रम के साथ संतुलित किया जा सकता है । दशम मण्डल
के अदितिसूक्त [७२] तथा नासदीय सूक्त [१२६] के अतिरिक्त निम्न-
लिखित ऋचाओं का मनन करना भी उपयुक्त होगा—ऋ० १।१६४।३८।
१। १५४। ४।। ३। २६। ७।। ४। ४२। ४।। ६। ४४। २३।। ८। ४०। १२।।
यजु० १८। ६६।। अथर्व० १०। ८। ४३। २०। ८३। १।। इत्यादि ।
यह दिग्दर्शनमात्र है ? इन स्थलों में जगत् के निमित्त कारण चेतन ब्रह्म
और उपादान कारण प्रकृति का त्रिविध रूप से वर्णन है । यथाप्रसंग जिन
पदों से यह वर्णन है, उनका निर्वचन मूलक विश्लेषण निमित्त तथा उपा-
दानभूत तत्त्वों की वास्तविक स्थिति को स्पष्ट करता है । उसको समझने
वाले विवेचक के लिये इस परिणाम तक पहुँचने में कोई बाधा नहीं रहती,
कि आज तक प्रतिभाशाली मानव ने सृष्टिरचना एवं जगत् के मूलविषयक
जो विज्ञानसम्मत मन्तव्य प्रस्तुत किये हैं, उनका इस विषय के वैदिक संकेतों
के साथ किसी तरह का असामञ्जस्य नहीं है । फलतः इस समन्वय के आधार
पर जगत् का निर्माण और शास्त्रका प्रादुर्भाव करने वाला एकमात्र चेतन
'ब्रह्म' निश्चित होता है । इस तथ्य का, यही सबसे महत्त्वपूर्ण आधार है,
कि धर्म का आदिस्रोत वेद ही क्यों है ?

*

१. प्रकाश पुंज की स्तुति

अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम् ऋ० मण्डल १—सू० १—मं० १

व्याख्यान–हे वन्द्येश्वराग्ने ! आप ज्ञानस्वरूप हो, आप की मैं स्तुति करता हूँ। सब मनुष्यों के प्रति परमात्मा का यह उपदेश है, हे मनुष्यो ! तुम लोग इस प्रकार से मेरी स्तुति, प्रार्थना और उपासनादि करो, जैसे पिता वा गुरु अपने पुत्र वा शिष्य को शिक्षा करता है कि तुम पिता वा गुरु के विषय में इस प्रकार से स्तुति आदि का वर्तमान करना, वैसे सब के पिता और परमगुरु ईश्वर ने हमको कृपा से सब व्यवहार और विद्यादि पदार्थों का उपदेश किया है, जिससे हमको व्यवहार-ज्ञान और परमार्थ-ज्ञान होने से अत्यन्त सुख हो। जैसे सबका आदि-कारण ईश्वर है, वैसे परमविद्या वेदका भी आदिकारण ईश्वर है।

हे सर्वहितोपकारक ! आप "पुरोहितम्" सब जगत् के हित-साधक हो। हे यज्ञदेव ! सब मनुष्यों के पूज्यतम और ज्ञान-यज्ञादि के लिए कमनीयतम हो। "ऋत्विजम्" सब ऋतु वसन्त आदि के रचक अर्थात् जिस समय जैसा सुख चाहिए उस समय वैसे सुख के सम्पादक आप ही हो। "होतारम्" सब जगत् को समस्त योग और क्षेम के देने वाले हो और प्रलय समय में कारण में सब जगत् का होम करने वाले हो। "रत्नधातमम्" रत्न अर्थात् रमणीय पृथिव्यादिकों के धारण रचना करने वाले तथा अपने सेवकों के लिए रत्नों के धारण करने वाले एक आप ही हो। हे सर्वशक्तिमन् परमात्मन् ! इसलिये मैं वारंवार आप की स्तुति करता हूँ, इसको आप स्वीकार कीजिये, जिससे हम लोग आप के कृपापात्र होके सदैव आनन्द में रहें॥

२. अपने प्रभु से

ओं शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्यमा ।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः ॥१॥

ऋ० मण्डल १ । सू० ६१ । मं० ६

व्याख्यान—हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप, हे नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव, हे अद्वितीयानुपम, जगदादिकारण, हे अज, निराकार, सर्वशक्तिमन्, न्यायकारिन्, हे जगदीश, सर्वजगदुत्पादकाधार, हे सनातन, सर्वमङ्गलमय, सर्वस्वामिन्, हे करुणाकरास्मत्पितः, परमसहायक, हे सर्वानन्दप्रद, सकलदुःखविनाशक, हे अविद्यान्धकारनिर्मूलक, विद्यार्कप्रकाशक, हे परमैश्वर्यदायक, साम्राज्यप्रसारक, हे अधमोद्धारक, पतितपावन, मान्यप्रद, हे विश्वविनोदक, विनयविधिप्रद, विश्वासविलासक, हे निरञ्जन, नायक, शर्मद, नरेश, निर्विकार, हे सर्वान्तर्यामिन्, सदुपदेशक, मोक्षप्रद, हे सत्यगुणाकर, निर्मल, निरीह, निरामय, निरुपद्रव, दीनदयाकर, परमसुखदायक, हे दारिद्र्यविनाशक, निर्वैरविधायक, सुनीतिवर्धक, हे प्रीतिसाधक, राज्यविधायक, शत्रुविनाशक, सर्वबलदायक, निर्बलपालक, धर्मसुप्रापक, हे अर्थसुसाधक, सुकामवर्द्धक, ज्ञानप्रद, हे सन्ततिपालक, धर्मसुशिक्षक, रोगविनाशक, हे पुरुषार्थप्रापक दुर्गुणनाशक, सिद्धिप्रद, हे सज्जनसुखद, दुष्टसुताड़न, गर्वकुक्रोधकुलोभविदारक, हे परमेश, परेश, परमात्मन्, परब्रह्मन्, हे जगदानंदक परमेश्वर, व्यापक, सूक्ष्माच्छेद्य, हे अजरामृताभयनिर्बन्धानादे ! हे अप्रतिमप्रभाव, निर्गुणातुल, विश्वाद्य, विश्वन्द्य, विद्वद्विलासक, इत्याद्यनन्तविशेषणवाच्य,

हे मङ्गलप्रदेश्वर ! आप सर्वथा सबके निश्चित मित्र हो । हमको सत्यसुखदायक सर्वदा हो । हे सर्वोत्कृष्ट, स्वीकरणीय, वरेश्वर ! आप वरुण अर्थात् सबसे परमोत्तम हो, आप हमको परमसुखदायक हो । हे पक्षपातरहित, धर्मन्यायकारिन् ! आप अर्यमा (यमराज) हो, हमारे लिए न्याययुक्त सुख देने वाले आप ही हो । हे परमैश्वर्य्यवन् इन्द्रेश्वर ! आप हमको परमैश्वर्ययुक्त शीघ्र स्थिर सुख दीजिए । हे महाविद्या वाचोऽधिपते, बृहस्पते, परमात्मन् ! हम लोगों को (बृहत्) सबसे बड़े सुख को देने वाले आप ही हो । हे सर्वव्यापक अनन्त पराक्रमेश्वर विष्णो ! आप हमको अनन्त सुख देओ । जो कुछ माँगेंगे सो आप से ही हम लोग माँगेंगे । सब सुखों का देने वाला आप के विना कोई नहीं है । सर्वथा हम लोगों को आपका ही आश्रय है, अन्य किसी का नहीं, क्योंकि सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयामय. सब से बड़े पिता को छोड़ के नीच का आश्रय हम लोग कभी न करेंगे । आप का तो स्वभाव ही है कि अङ्गीकृत को कभी नहीं छोड़ते, सो आप सदैव हमको सुख देंगे, यह हम लोगोंको दृढ़ निश्चय है ।

३. लक्ष्मी प्राप्ति

ओं इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रितमश्नुताम् ।
मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा॥ यजु० ३२।१६

शब्दार्थ—(इदम्) यह (मे) मेरा (ब्रह्म) ब्राह्मण (क्षत्रं) क्षत्रिय (श्रियम) राज्य लक्ष्मी को (अश्नुताम) प्राप्त हों (मयि) मुझमें (देवा) देवगण (दधतु) धारण करें (श्रियम) लक्ष्मी (उत्तमां) को श्रेष्ठ (तस्मै) उसके लिए (ते) तुम्हारे लिए (स्वाहा) सत्याचरण क्रिया से युक्त हों ।

भाषानुवाद—सत्याचरण रूप क्रिया द्वारा हमारे ब्राह्मण तथा क्षत्रिय दोनों राज्य लक्ष्मी को प्राप्त करें । हममें देवगण उत्तम लक्ष्मी को स्थापन करें । उस (लक्ष्मी के लिए) तुम्हारे लिए भी (हम प्रयत्न करें)

४. प्रभु कैसा है ?

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविर ँ शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥२॥ यजुर्वेद अध्याय ४० । मं० ८ ॥

व्याख्यान—"स, पर्यगात्" वह परमात्मा आकाश के समान सब जगह में परिपूर्ण (व्यापक) है । "शुक्रम्" सब जगत् का करने वाला वही है । "अकायम्" और वह कभी शरीर (अवतार) नहीं धारण करता । वह अखण्ड और अनन्त, निर्विकार होने से देह धारण कभी नहीं करता । उससे अधिक कोई पदार्थ नहीं है । इससे ईश्वर का शरीर धारण करना कभी नहीं बन सकता । "अव्रणम्" वह अखण्डैकरस, अच्छेद्य, अभेद्य, निष्कम्प और अचल है, इससे अंशांशिभाव भी उसमें नहीं है, क्योंकि उसमें छिद्र किसी प्रकार से नहीं हो सकता । "अस्नाविरम्" नाड़ी आदि का प्रतिबन्ध (निरोध) भी उसका नहीं हो सकता । अति सूक्ष्म होने से ईश्वर का कोई आवरण नहीं हो सकता । "शुद्धम्" वह परमात्मा सदैव निर्मल अविद्यादि जन्म, मरण, हर्ष, शोक, क्षुधा, तृषादि दोषोपाधियों से रहित है । शुद्ध की उपासना करने वाला शुद्ध ही होता है, और मलिन का उपासक मलिन ही होता है । "अपापविद्धम्" परमात्मा कभी अन्याय नहीं करता, क्योंकि वह सदैव न्यायकारी ही है । "कविः" त्रैकालज्ञ, (सर्ववित्) महाविद्वान् जिसकी विद्या का अन्त कोई कभी नहीं ले सकता । "मनीषी" सब जीवों के मन (विज्ञान) का साक्षी सबके मन का दमन करने वाला है । "परिभूः" सब दिशाओं और सब जगह में परिपूर्ण हो रहा है, सबके ऊपर विराजमान है । "स्वयम्भूः" जिसका आदि कारण माता, पिता,

उत्पादक, कोई नहीं, किन्तु वही सबका आदिकारणादि है। "याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः" उस ईश्वर नें अपनी प्रजा को यथावत् सत्य, सत्यविद्या जो चार वेद उनका सब मनुष्यों के परमहितार्थ उपदेश किया है। उस हमारे दयामय पिता परमेश्वर ने बड़ी कृपा से अविद्यान्धकार का नाशक वेद-विद्यारूप सूर्य्य प्रकाशित किया है। और सबका आदिकारण परमात्मा है—ऐसा अवश्य मानना चाहिये। एवं विद्या-पुस्तक का भी आदिकारण ईश्वर को निश्चित मानना चाहिये। विद्या का उपदेश ईश्वर ने अपनी कृपा से किया है। क्योंकि हम लोगों के लिए (उसने) सब पदार्थों का दान किया है, तो विद्या-दान क्यों न करेगा। सब सर्वोत्कृष्ट विद्या पदार्थ का दान परमात्मा ने अवश्य किया है, तो वेद के विना अन्य कोई पुस्तक संसार में कोई ईश्वरोक्त नहीं है। जैसा पूर्ण विद्यावान् और न्यायकारी ईश्वर है वैसे ही वेद पुस्तक भी है। अन्य कोई पुस्तक ईश्वरकृत, वेद तुल्य वा अधिक नहीं है।

५. आज्ञा पालें

कदा क्षत्रश्रियं नरमा वरुणं करामहे।
मृडीकायोरुचक्षसम्॥ ऋ० म० १। सू० २५। म० ५।

शब्दार्थ—(कदा) कब (क्षत्रश्रियम्) चक्रवर्त्ति राज्य लक्ष्मी को (नरम्) सर्वसञ्चालक (वरुणम्) वरुण (वरणीय परमात्मा) (करामहे) सिद्ध करेंगे (मृडीकाय) आनन्द के लिए उरुचक्षसम) नाना प्रकार से जिसका वर्णन (वेदों में) किया गया है।

भाषानुवाद—जिस वरुण (अत्यंत वरणीय) परमात्मा का वर्णन वेदों में नाना प्रकार से किया है तथा जो समस्त विश्व का सञ्चालक है उस ब्रह्म की आज्ञा पालन करके हम लोग अत्यन्त आनन्द प्राप्त करने के लिए सब राज्य लक्ष्मी को प्राप्त करने में समर्थ होंगे।

ENGLISH TRANSLATION

For the sake of happiness when shall we be able to attain Self-Government by serving Varuna (All-regulating God) who is the leading Power and who has been Variously described (in the Vedas)?

६. वैदिक-संज्ञान

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥

ऋग्वेद—१०। १६१।१३

(समानो मन्त्रः) हे मानवाः ! वो युष्माकं मन्त्रोऽर्थान्मननमीश्वरमारभ्य पृथिवीपर्यन्तानां गुप्तप्रसिद्धसामर्थ्यगुणानां पदार्थानां भाषणमुपदेशनं ज्ञानं वा भवति यस्मिन् येन वा स मन्त्रो विचारो भवितुमर्हति । तद्यथा-राज्ञो मन्त्री सत्यासत्यविवेककर्त्तेत्यर्थः, सोऽपि सत्यज्ञानफलः, सर्वोपकारकः, समानतुल्योऽर्थाद्विरोधरहित एव भवति । यदा बहुभिर्मनुष्यैर्मिलित्वा संदिग्धपदार्थानां विचारः कर्तव्योभवेत्तदा प्रथमतः पृथक् पृथगपि सभासदां मतानि भवेयुस्तत्रापि सर्वेभ्यः सारं गृहीत्वा यद्यत्सर्वमनुष्यहितकारकं सद्गुणलक्षणान्वितं मतं स्यात्तत्तत्सर्वं ज्ञात्वैकत्र कृत्वा नित्यं समाचरत । यतः प्रतिदिनं सर्वेषां मनुष्याणामुत्तरोत्तरमुत्तमं सुखं वर्धेत । तथा

(समितिः समानी)समितिः=सामाजिक नियम व्यवस्थार्थाद्या न्याय प्रचाराढ्या, सर्वमनुष्याणां मान्यज्ञानप्रदा, ब्रह्मचर्यविद्याभ्यासशुभगुणसाधिका, शिष्टसभया राज्यप्रबन्धाद्याह्लदिता, परमार्थव्यवहारशोधिका, बुद्धिशरीर बलारोग्यवर्द्धिनी शुभमर्य्यादापि समानी सर्वमनुष्यस्वतन्त्र दान सुखवर्धनायैकरसैव कार्येति ।

(समानम् मनः) मनः संकल्पविकल्पात्मकं, संकल्पोऽभिलाषेच्छेत्यादि, विकल्पोऽप्रीतिर्द्वेष इत्यादि । शुभगुणान्प्रति संकल्पः, अशुभगुणान्प्रति विकल्पश्च रक्षणीयः । एतद्धर्मकं युष्माकम् मनः समानमन्योन्यमविरुद्धस्वभावमेवास्तु ।

यच्चित्तं पूर्वपरानुभूतं स्मरणात्मकं धर्मेश्वरचिन्तनं तदपि समानमर्थात्सर्वप्राणिनां दुःखनाशाय सुखवर्धनाय च स्वात्मवत्सम्यक् पुरुषार्थेनैव कार्य्यम् ।

(सह) युष्माभिः परस्परस्य सुखोपकारायैव सर्वसामर्थ्यं योजनीयम् ।

(एषां०)ये ह्येषां सर्वजीवानां सङ्गे स्वात्मवद्वर्त्तन्ते तादृशानां परोपकारिणां परसुखदातॄणामुपर्य्यहं कृपालुर्भूत्वा (अभिमन्त्रये वः) युष्मान्पूर्वपरोक्तं धर्ममाज्ञापयामि । इत्थमेव सर्वैः कर्तव्यमिति । येन युष्माकं मध्ये नैव कदाचित्सत्यनाशोऽसत्यवृद्धिश्च भवेत् ।

(समानेन वः) हवि र्दानम् ग्रहणम् च, तदपि सत्येन धर्मेण युक्तमेव कार्य्यम् । तेन समानेन हविषा वो युष्मान् जुहोमि, सत्यधर्मेण सहैवाहं सदा नियोजयामि ।

अतो मदुक्त एव धर्मो मन्तव्यो नान्य इति ॥

भाषार्थ—(समानो मन्त्रः) हे मनुष्य लोगो ! जो तुम्हारा मंत्र अर्थात् सत्य असत्य का विचार है वह समान हो । उसमें किसी प्रकार का विरोध न हो और जब जब तुम लोग मिलकर विचार करो, तब तब सबके वचनों को अलग अलग सुनके जो जो धर्मयुक्त और जिसमें सबका हित हो सो सो सबमें से अलग करके, उसी का प्रचार करो । जिससे सभी का सुख बढ़ता जाय । (समितिः समानी) और जिसमें सब मनुष्यों का मान, ज्ञान, विद्याभ्यास, ब्रह्मचर्यादि आश्रम, अच्छे अच्छे काम, उत्तम मनुष्यों की सभा से राज्य के प्रबन्ध का यथावत् करना और जिस से बुद्धि, शरीर, बल, पराक्रम आदि गुण बढ़ें तथा परमार्थ और व्यवहार शुद्ध हों ऐसी जो उतम मर्यादा है सो भी तुम लोगों की एक ही प्रकार की हो । जिससे तुम्हारे सब श्रेष्ठ काम सिद्ध होते जाएँ । (समानं मनः सह चित्तम्) हे मनुष्य लोगो ! तुम्हारा मन भी आपस में विरोध रहित, अर्थात् सब प्राणियों के दुःख के नाश और सुख की वृद्धि के लिए अपने आत्मा के समतुल्य पुरुषार्थ वाला हो । शुभ गुणों की प्राप्ति की इच्छा को संकल्प और दुष्टगुणों के त्याग की इच्छा को विकल्प कहते हैं । जिस से जीवात्मा ये दोनों कर्म करता है उसका नाम मन है । उस से सदा पुरुषार्थ करो । जिससे तुम्हारा धर्म सदा दृढ़ और

अविरुद्ध हो। तथा चित्त उसको कहते हैं कि जिससे सब अर्थों का स्मरण अर्थात् पूर्वापर कर्मों का यथावत् विचार हो। वह भी तुम्हारा एक सा हो। (सह) जो तुम्हारा मन और चित्त हैं, ये दोनों सब मनुष्यों के सुख ही के लिए प्रयत्न में रहें। (एषां) इस प्रकार से जो मनुष्य सबका उपकार करने और सुख देने वाले हैं, मैं उन्हीं पर सदा कृपा करता हूँ। (समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः) अर्थात् मैं उनके लिए आशीर्वाद और आज्ञा देता हूं कि सब मनुष्य मेरी इस आज्ञा के अनुकूल चलें। जिससे उनका सत्य धर्म बढ़े रऔ असत्य का नाश हो। (समानेन वो हविषा जुहोमि) हे मनुष्य लोगों ! जब जब कोई पदार्थ किसी को दिया चाहो अथवा किसी से ग्रहण किया चाहो, तब तब धर्म से युक्त ही करो। इससे विरुद्ध व्यवहार को मत करो और यह बात निश्चय करके जान लो कि मैं सत्य के साथ और तुम्हारे साथ सत्य का संयोग करता हूँ। इसलिए कि तुम लोग इसी को धर्म मान के सदा करते रहो और इसमें भिन्न को धर्म को धर्म कभी मत मानो॥" (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका)

ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त के उपर्युक्त मन्त्र का देवता=विषय "संज्ञान" है। इसके समझने के लिए तालिका देखिये।

(एषाम्) इन सब मनुष्यों के—

१. मन्त्र := विचार, समानः = तुल्य हों,

२. समितिः = शुभ मर्यादा, समानी = एक रसा हो,

३. मनः = संकल्प विकल्प स्वरूप अन्तःकरण, समानम् = परस्पर अविरुद्ध हो,

चित्तम् = स्मरणात्मक धर्म, और ईश्वर चिन्तन सह = मन सहित दुःख नाश और सुख सहित हो।

ईश्वर का यह आशीर्वाद शुभ कर्म करने वाले ज्ञानी लोगों के लिए है। जब उत्तम कर्मों को ज्ञानपूर्वक लोग करते हैं, उन

को ही ईश्वर का साहाय्य प्राप्त होता है। इस भाव को उपयुक्त मन्त्र के पिछले दो चरणों में समझाया गया है कि मैं ईश्वर शुभ गुण वाले लोगों के मन और चित्त को अभिमन्त्रित करता हूं जिससे वे श्रेष्ठ मार्ग पर चलें और जैसे ये लोग परस्पर सत्य धर्मपूर्वक देने लेने का व्यवहार करने हैं, उसी के अनुसार मैं ईश्वर उनको सत्य और धर्म के साथ संयुक्त करता हूँ।

इसका अभिप्राय यही है कि जो मानव ईश्वर की आज्ञा अनुकूल शुद्ध कर्म करते हैं उनके अन्तःकरण में ईश्वर की उपासना से स्वच्छता आ जाती है और वे शुद्ध ज्ञानपूर्वक पवित्र कर्म करते हैं—यही संज्ञान कहलाता है।

इस मन्त्र में मन्त्र, समिति, मन और चित्त की व्याख्या अपूर्व ढंग से ऋषि दयानन्द ने अति सरल शब्दों द्वारा समझायी है। जिससे उक्त पदार्थों के अनेक गुणों का ग्रहण होता है। पाठक महानुभाव बार बार मन्त्र के शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध पर विचार करें, इससे अनेक प्रकार की योग्यता प्राप्त हो सकती है।

७. आप प्रसन्न हों

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरङ्कताः।
तेषां पाहि श्रुधी हवम् ।। १।१।३ १

व्याख्यान—हे अनन्तबल परेश वायो, दर्शनीय! आप अपनी कृपा से ही हमको प्राप्त हों। हम लोगों ने अपनी अल्पशक्ति से सोम (सोमवल्लादि) ओषधियों का उत्तम रस सम्पादन किया है और जो कुछ भी हमारे श्रेष्ठ पदार्थ हैं वे आपके लिए ही "अरङ्कृताः" अलंकृत अर्थात् उत्तम रीति से हमने बनाये हैं, वे सब आपके समर्पण किए गए है, उनको आप स्वीकार करो (सर्वातिय से पान करो)। हम दीनों की पुकार सुनकर जैसे पिताको पुत्र छोटी चीज समर्पण करता है, उस पर पिता अत्यन्त प्रसन्न होता है, वैसे आप हम पर प्रसन्न होओ।

८. मनुष्य बन

तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि,
ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान् ।
अनुल्बणं वयत जोगुवामपो,
मनुर्भव जनया दैव्यं जनम् ।। ऋ. १०।५३।६

(रजसः) संसार का (तन्तुम्) ताना बाना (तन्वन्) तनता बुनता हुआ (भी) (भानुम्) प्रकाश के (अनु इहि) पीछे जा। (धिया) बुद्धि से (कृतान्) बनाए हुए, परिष्कृतकिए हुए (ज्योतिष्मतः) ज्योतिर्मय, प्रकाश-युक्त (पथः रक्ष) मार्गों की रक्षा कर, (जोगुवाम्) निरन्तर ज्ञान और कर्म का अनुष्ठान करने वालों के (अनुल्बणम्) उलझन रहित (अपः) कर्म को (वयत) विस्तृत करो। इन उपायों से (मनुः भव) मनुष्य बन। और (दैव्यम्) देवों के हितकारी (जनम्) जन को, सन्तान को (जनया) (जनय) उत्पन्न कर।

संसार को सदा जिसकी आवश्यकता रही है और रहेगी, तथा इस समय भी जिसकी अत्यन्त आवश्यकता है, उस तत्त्व का उपदेश इस मन्त्र में किया गया है। वेद में यदि और उपदेश न होता, केवल यही मन्त्र होता, तब भी वेद का आसन संसार के सभी मतों और संप्रदायों से उच्च रहता।

वेद कहता है—मनुर्भव--मनुष्य बन।

आज का संसार ईसाई बनने पर बल देता है अर्थात् ईसा का

अनुकरण करने के लिये यत्नवान् है। संसार का एक बड़ा भाग बौद्ध बनने में लगा हुआ है; अर्थात् बुद्ध के चरणचिह्नों पर चलता हुआ 'बुद्धं शरणं गच्छामि' का नाम गुंजा रहा है। इसी प्रकार संसार का एक भाग मुहम्मद का अनुगमन करने में तत्पर है। महापुरुषों का अनुकरण प्रशंसनीय है। किन्तु थोड़ा सा विचार करें तो एक विचित्र दृश्य सामने आता है, अद्भुत तमाशा देखने को मिलता है। ईसाई ने ईसा का नाम लेकर जो कुछ अपने भाइयों के साथ किया, उसकी स्मृति ही मनुष्य को कंपा देती है। बिल्ली के बच्चे तक की रक्षा करने वाले मुहम्मद की उम्मत का इतिहास भी भाइयों के रक्त से रंजित है। अतः जिसे मनुष्य कहते है, वह मनुष्यता का वैरी हो रहा है। हमने संकीर्णता के कारण संकुचित दल बना डाले। एक दल दूसरे दल को दलने, मसलने-कुचलने पर तत्पर है। आज मनुष्य मनुष्य का वैरी हो रहा है। अतः वेद कहता है–मनुर्भव—मनुष्य बन। ईसाई या बौद्ध या मुसलमान बनने या किसी दूसरे सम्प्रदाय में सम्मिलित होने में वह रस कहाँ, जो 'मनुष्य' बनने में है। ईसाई बनने से केवल ईसाइयों को ममत्व से देखूँगा। बौद्ध बनने से अन्य सबको असद्धर्मी मानूँगा। मुसलमान होकर मोमिनों को ही अपने प्यार का अधिकारी मानूँगा; किन्तु मनुष्य बनने पर तो विश्व, संसार मेरा परिवार होगा, सब पर मेरा एक समान प्यार होगा। वसुधा को कुटुम्ब माना, तो सारे कुटुम्ब पर प्यार करना चाहिये। कुटुम्ब में समता का साम्राज्य होता है। विषमता का व्यवहार कुटुम्ब की एकतानता पर वज्रप्रहार है। समता स्थिर रखने के लिये स्नेही का व्यवहार करना होता है, तभी तो वेद ने कहा—

'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे' य० ३६।१८

सबको मित्र की स्नेह सनी आँख से हम देखें।

यहाँ वेद मनुष्य-सीमा से भी आगे निकल गया। प्यार का अधिकारी केवल मनुष्य ही न रहा, वरन् सब भूत-प्राणी हो गये। यह उचित भी है, क्योंकि 'मनुष्य' शब्द का अर्थ है—

'मत्वा कर्म्माणि सीव्यन्ति' (निरुक्त ३।७)

जो विचारकर कर्म करे, अन्धाधुन्ध कर्म न करे। कर्म करनेसे पूर्व जो भली प्रकार विचारे कि मेरे इस कर्म का क्या फल होगा ? किस-२ पर इसका क्या-क्या प्रभाव होगा ? यह कर्म भूतों के दुख := प्राणियों की पीड़ा का कारण बनेगा, या भूतहित साधेगा ?

मनुष्य यदि सचमुच मनुष्य बन जाय तो संसार से सारा उपद्रव दूर हो जाए। देखिए, थोड़ा विचारिए; थोड़ा सा मनुष्यत्व काम में लाइए। वेद के इस उपदेश के महत्व को हृदयङ्गम कीजिए।

धार्मिक दृष्टि से विचारें, तो मनुष्य समाज के दो बड़े विभाग बन सकते हैं—एक ईश्वरवादी दूसरा अनीश्वरवादी। सभी ईश्वर-वादी ईश्वर को 'पिता' मानते हैं। वेद इससेभी आगे जाता है वह ईश्वर को पिता के साथ माता भी मानता है। यथा—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अधा ते सुम्नमीमहे ।। ऋ. ८।९८।११।।

अर्थात् सबको ठिकाना देने वाले ! सचमुच तू हमारा पिता है। प्राणियों की उत्पत्ति आदि नानाविध कर्म करने वाले परमात्मन् ! तू हमारी माता है, अतःहम तेरा उत्तम हृदय(Good wishes)चाहते हैं।

माता पिता की शुभाशीः, शुभकामना सन्तान का कितना कल्याण करती है? परम पिता तथा दिव्य माताकी भव्यभावना हमारा कितना इष्ट कर सकती है इसकी पूरी कल्पना कौन कर सकता है ? प्रभु हमारे माता पिता; हम उनकी सन्तान, किन्तु कुसन्तान, जघन्य सन्तान, अयोग्य सन्तान, विद्रोही सन्तान। हम आपस में लड़ते हैं। भाई-भाई की लड़ाई ! भगवान् ने कहा था—

सगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ऋ. १०।१९१।२

तुम्हारी चाल एक हो, तुम्हारा बोल एक हो, तुम्हारा ख्याल एक हो।

हमारी चाल आज भिन्न-भिन्न ही नहीं, परस्पर विरुद्ध है। आज हम संवादी नहीं, विवादी हो गए हैं। आज हम 'संवाचः' नहीं, 'विवाचः' हो गए हैं। इसका कारण हमारा 'वैमनस्य' मनो-

भेद—मतभेद=विचारभेद है। एक चाल=संगति,एक बोल=सम उक्ति के लिए 'सांमनस्य' मन की एकता, मत की अभिन्नता, विचार की समता की आवश्यकता है।

पिता का आदेश है, माता का सन्देश हैं—**संगच्छध्वम्** हम उसके विपरीत चलकर पिता का अधिकार, माता का प्यार कैसे पा सकते हैं! मानव! ठहर, सोच, तू कहाँ चला गया? कहाँ बिदक गया?

मैं बिदक गया! बहक गया! बज्रभ्रान्ति! ईश्वर ईश्वर कह रहे हो। कहाँ है ईश्वर? जब ईश्वर ही नहीं, तब उसका माता पिता होना कैसे? और हम सब मनुष्य 'भाई भाई' कैसे? **सति कुड्ये चित्रम्**—आधार होगा, तो चित्र बनेगा?'

अच्छा! ईश्वर को ही जवाब! जाने दो, तुम्हारा मन ईश्वर को नहीं मानता, न सही। भगवान् का मानना बड़े भाग्य की बात है। किन्तु भगवान को न मानकर भी मानव मानव का भाई है।

कैसे?

सुनो! सावधान होकर सुनो। तुम दो की सन्तान हो न! घबराने क्यों लगे? इसमें अचम्भे की बात ही क्या है? माता और पिता के संयोग से ही मनुष्य की उत्पत्ति होती है। अकेली स्त्री से सन्तान नहीं हो सकती। अकेले पुरुष से कुछ नहीं बनता। सृष्टि चलाने के लिए स्त्री पुरुष का, प्रकृति पुरुष का, रयि प्राण का संयोग आवश्यक है। अर्थात् दो मिले, तो तुम एक आए। अर्थात् तुम में दो का रुधिर आया। और ये दो भी तो दो दो के सन्तान हैं। अर्थात् हम में चार का रुधिर आया। उन चार के जो और सन्तान हुए, उनमें भी उनका रुधिर आया। कहो, वे और तुम सब सपिण्ड हुए या न? तनिक और आगे चलो, वे चार आठ के सन्तान, वे आठ सोलह की, इस प्रकार ज्यों ज्यों ऊपर को जाओगे, अपना खून का सम्बन्ध बढ़ता हुआ पाओगे।

कहो, हुए न हम भाई भाई।

बताओ, भाई भाई का व्यवहार कैसा होना चाहिए ? क्या भाई भाई का गला काटे, यह अच्छा है अथवा भाई के पसीने के बदले अपना खून बहा दे, यह अच्छा है ?

भाई को भाई से भय नहीं होता। भाई को अपने से अभिन्न माना जाता है। डर होता है दूसरे से, "द्वितीयाद्वै भयं भवति" भाई को देखते ही हृदय हर्षित हो उठता है। आ ! विश्वसंसार को भाई बना। भय को भगा। सर्वत्र निर्भय, निष्कण्टक आ और जा।

कहो, वेद का **'मनुर्भव'** कहना कल्याणसाधक है या नहीं ? निःसन्देह मनुष्य बनना संसार में शान्ति-स्थापना करने का एकमात्र साधन है। सभी मनुष्य 'मनुष्य बन जाएँ' तो यह मार काट, यह लूट खसूट उसी क्षण समाप्त हो जाए। किन्तु यह है अत्यन्त कठिन।

निःस्सन्देह मनुष्यत्व प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। शंकराचार्य्य जी ने कहा—'जन्तूनां नरजन्म दुर्लभम्। सचमुच नर तन पाना दुस्साध्य है। किन्तु असाध्य नहीं। वेद इससे आगे जाता है। वेद कहता है—मनुष्यजन्म नरतन तो तूने प्राप्त कर लिया मनुष्य' भी बन। केवल नरतनधारी ही न रह, नर मन धारी भी बन। इसी वास्ते वेद ने कहा—**'मनुर्भव'**।

यद्यपि 'मनुर्भव' कहने से ही सब बात आ गई है किन्तु भगवती श्रुति उसके उपाय भी बता देती है। वैसे तो सारा वेद ही नरतनधारो को मनुष्य बनाने के लिए हैं, किन्तु इस मन्त्र में जो कुछ कहा है उस पर भो यदि आचरण किया जाए तो अभीष्ट सिद्ध हो जाए।

मनुष्य बनने का पहला साधन है—

'तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि,'

संसार का ताना बाना बुनता हुआ भी तू प्रकाश का अनुसरण कर; अर्थात् तेरे समस्त कर्म ज्ञानमूलक होने चाहिएँ।

अज्ञान, अन्धकार तो मृत्यु के प्रतिनिधि हैं। अन्धकार से उल्लू को प्रीति हो सकती है, मनुष्य को नहीं ; मनुष्य बनने के लिए अन्धकार से परे हटना होगा । ऋषि ठीक ही कहते हैं—

तमसो मा ज्योतिर्गमय । शत० १४।३।१।३०

अन्धकार से हटा कर मुझे प्रकाश प्राप्त करा ।

अन्धकार में कुछ नहीं सूझता; सब क्रियाएँ, चेष्टाएँ रुक जाती है । अतः वेद कहता है—"**भानुमन्विहि**" प्रकाश के पीछे चल ।

प्रकाश का अनुसरण करना मात्र ही पर्य्याप्त नहीं है । कुछ और आवश्यक होता है । प्रकाश के पीछे तभी चला जा सकेगा, जब प्रकाश स्थिर होगा । यदि प्रकाश विद्युच्छटा के समान चंचल हो, तो उसका अनुसरण कैसे हो सकता है, इस आशय को लेकर वेद ने दूसरा उपाय बताया—

ज्योतिष्मतः पथो रक्षधिया कृतान् ।

प्रकाश के मार्गों की रक्षा कर, उनमें अपनी बुद्धि से परिष्कार कर ।

संसार के सभी देशों में रोशनी बुझाने वालों के लिए दण्ड का विधान है : किन्तु संसार की गति अत्यन्त विचित्र है । संसार में ऐसे भी हुए हैं, और कदाचित् आज भी ऐसे मनुष्याकारधारी प्राणी हैं, जो प्रकाश का नाश करते रहे और कर रहे हैं । उसे क्या कहोगे, जिसने सिकन्दरिया का विशाल पुस्तकालय जला दिया । उन्हें क्या कहोगे, जो वर्षों भारत के ज्ञानभण्डार से हमाम = स्नानागार-गर्म करते रहे ? उनका क्या नाम धरोगे, जिन्होंने चित्रकूट का करोड़ों रुपयों का पुस्तकालय अग्निदेव की भेंट कर डाला ? ये सभी नरतनधारी थे, किन्तु क्या ये मनुष्य नाम के भी अधिकारी थे, इसमें सन्देह है । मनुष्य बनाने का साधन नष्ट करने-वाले मनुष्य कैसे ? वे तो कोई मनुष्यता के वैरी थे । उनको क्या कहोगे, जो आज भी ज्ञानभण्डार को जलदेवता के अर्पण कर रहे हैं ? उनको क्या कहोगे, जो प्रकाश को दूसरों तक नहीं

जाने देते, अपने तक रोक रखते हैं ? ये सब—……। लाखों ज्ञानी ज्ञान अपने साथ ले जाते हैं। वह ज्ञान किस काम का ? वेद कहता है—**ज्योतिष्मतः पथो रक्ष**—ज्ञानमार्गों की रक्षा कर। पूर्वजों से प्राप्त ज्ञानराशि की रक्षा कर।

मानव ! तू वायुयान में बैठकर आकाश की ओर उड़ जाता है, अन्तरिक्ष की सैर करता है। ज्ञात है यह कैसे संभव हो सका। वेद के 'अन्तरिक्षें रजसो वीमानः, की बात नहीं कहूँगा। और। न ही कहूंगा रामायण के पुष्पक विमान की बात। आज के विमान का बयान सुनाऊँगा। किसी भद्र के चित्त में पक्षी को उड़ता देख उड़ने की समाई। उसने कृत्रिम पंख लगाकर उड़ने की ठानी। बेचारा गिर पड़ा, अंग भंग हो गए। अगलों ने उसकी चेष्टा को स्मरण रखा, उसके यन्त्र को मूलाधार बनाया, साथ ही उसमें अपना मस्तिष्क लगाया। अब सोच मानव ! यदि उस प्रथम त्यागी के ज्ञान को भुला दिया जाता, तो नए सिरे से यत्न करना पड़ता, फल क्या होता, वायुयान न बन पाता। अतः वेद का यह कहना **'ज्योतिष्मतः पथो रक्ष'** बहुत ही सारगर्भित है।

हाँ ! यदि उस पहले उड़ने वाले ने जितना यत्न किया था, उतने की रक्षा को जाती, उसमें अपना भाग न डाला जाता, अपना दिमाग़ न लड़ाया जाता तो ! तो भी वायुयान न बन पाता। अतः वेद ने ठीक ही कहा—**धिया कृतान**—प्रकाश की रक्षा अवश्य कर, किन्तु उसमें अपना भाग भी डाल। अन्यथा दीपक बुझ जाएगा।

वैदिकों ने इस तत्त्व को समझकर प्रथम संस्कृति=वेद तथा उसके अङ्गोंपाङ्गों की रक्षा करने में प्राणपण से यत्न किया है। अतः वेद के शब्दों में कही—

नमः ऋषिभ्यपूर्वजेभ्यः। ऋ० १०। १४। १५

पूर्वज ऋषियों को नमस्कार।

ज्ञान का पर्य्यवसान अनुष्ठान में होता है। ज्ञान का अनुसरण

करने के लिए ज्ञान के रक्षण और परिवर्द्धन की नितान्त आवश्यकता है किन्तु ज्ञान का प्रयोजन ? 'ज्ञान ज्ञान के लिए' यह सिद्धान्त प्रमादियों का है। ज्ञान की सफलता कर्म्म में है। अतः वेद कहता है—

'अनुल्बणं वयत जोगुवामपः ।'

ज्ञानानुसार कर्म्म करने वालों के उलझन रहित कर्म्मों को करो। लोकोक्ति है—'लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः'—कर्म्म बन्धन का कारण है। वेद कहता है कर्म तो अनिवार्य्य हैं, उनसे छूट नहीं सकते। अतः ऐसे कर्म्म करो जो उलझन को मिटाने वाले हों, न कि उलझन के बढ़ाने वाले। जो कर्म्म ज्ञानविरहित होंगे, ज्ञान के विपरीत होंगे, वे अवश्य उलझन पैदा करेंगे। अतः ऐसा न कर जिससे संसार की उलझनें और बढ़ें। यह तो पहले ही बहुत उलझा हुआ है।

तुझे सूझता नहीं कि कौन सा कर्म्म 'अनुल्बण' है और कौन सा 'उल्बण'। तुझे कोई अंगुलि पकड़ कर बताए। अच्छा, जहाँ तू रहता है, वहाँ कोई ब्रह्मनिष्ठ भी है या नहीं ? उन ब्रह्मनिष्ठों का व्यवहार देखना, जो सत्यप्रिय, मधुर-भाषी, निष्काम, सर्वहितकारी हों। देख, वे कैसे करते हैं। उनका अनुसरण कर। किन्तु ज्ञान को हाथ से न जाने देना।

इन साधनों का अनुष्ठान करके निःसन्देह मनुष्यता सुलभ हो जाती है। किन्तु मनुष्यत्व के साथ वेद ने एक कर्त्तव्य भी लगा दिया है। वह है—

जनया दैव्यं जनम्—दैव्यं जन पैदा कर

मनुष्य को मनुष्यता की सारी सामग्री समाज से मिली है। अतः

उसे चाहिए कि वह भी समाज को कुछ दे जाये, समाज का सारा कार्य्यभार* देवों के सहारे चलता है। प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि ऐसे सर्वहितकारी देवों का कुछ प्रत्युपकार अवश्य करे। इस भाव को लेकर वेद ने कहा—

जनया दैव्यं जनम्।

दैव्यं-देवहितकारी जन को कौन पदा करेगा ? क्या राक्षस दयु ? कभी नहीं। अतः देवजनहितकारी सन्तान उत्पन्न करने के लिए मनुष्य को स्वयं देव बनना पडेगा, अर्थात् मनुष्य बन कर जब सन्तान उत्पन्न करने में प्रवृत्त होने लगे, तब उसके हृदय में कुकाम की कुवासना न हो, वरन् जनसमाज, नहीं नहीं देवसमाज के हित की भावना हो।

इस प्रकार वेद मनुष्य बना कर चुपके से देवत्व के मार्ग पर ला खड़ा करता है।

---

*'देव' शब्द के सम्बन्ध में बौधायन गृह्यसूत्र के निम्नलिखित सूत्र देखन योग्य है—

१. ब्राह्मणेन ब्राह्मण्यामुत्पन्नः प्रागुपनयनाज्जात इत्यभिधीयते ॥१॥
ब्राह्मण से ब्राह्मणी में उत्पन्न हुआ बालक उपनयन से पूर्व 'जात' कहलाता है।

२. उपनीतमात्रो व्रतानुचारी वेदानां किञ्चिदधीत्य ब्राह्मणः ॥२॥
ब्रह्मचर्य्यादि व्रतों का आचरण करने वाला यज्ञोपवीतधारी कुछ वेद पढ़ कर 'ब्राह्मण' होता है।
एकां शाखामधीत्य श्रोत्रियः ॥३॥

३. एकशाख पढ़ने से 'श्रोत्रिय' होता है।

४. अङ्गान्यधीत्यानूचानः ॥४॥
वेदाङ्ग पढ़ कर 'अनूचान' होता है।

५. कल्पाध्यायी ऋषिकल्पः ॥५॥
वेद की प्रयोगविद्या पढ़ कर 'ऋषिकल्प' होता है।

६. सूत्रप्रवचनाध्यायी भ्रूणः ॥६॥

सूत्र और व्याख्यान को पढ़ने वाला 'भ्रूण' होता है।

७. चतुर्वेदाद् ऋषिः ॥७॥

चारों वेदों के पढ़ने से 'ऋषि' होता है।

८. अत ऊर्ध्वं देवः ॥८॥

इससे आगे 'देव' होता है।

चारों वेदों के पढ़ने के आगे उनके अनुसार अनुष्ठान ही हो सकता है। वेदविद्या के अनुसार जीवन बिताने वाले सर्ववेदवित् को देव कहना चाहिए। वेदानुसार जीवन है लोकोपकार में अपने आपको लगा देना।

९ आत्म सम्बन्ध

ओं युंजन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः।

रोचन्ते रोचना दिवि ॥ ऋ० मं १ सू० ६ मण्डल १॥

शब्दार्थ—(युंजन्ति) सम्बन्ध जोड़ते हैं (ब्रध्नम्) महान् ईश्वर को (अरुषम्) हिंसा रहित को (चरन्तम्) सर्वज्ञ को (परि) सब ओर से (तस्थुषः) स्थावर पदार्थों वा मनुष्यों को (रोचन्ते) प्रकाशित करते हैं (रोचना) प्रकाशित होकर के (दिवि) प्रकाश स्वरूप परमात्मा में।

भाषानुवाद—(जो योगी पुरुष) स्थावरों तथा मनुष्यों में सब ओर से परिपूर्ण, सबसे महान्, हिंसा रहित तथा सर्वज्ञ परमात्मा के साथ (अपने आत्मा का) सम्बन्ध जोड़ते हैं, वे (ही) प्रकाश स्वरूप परमात्मा के प्रकाश में प्रकाशित होकर (जगत के) प्रकाश करने वाले होते हैं।

ENGLISH TRANSLATJON

(The sages) who commune w!th God who is wholly pervading (the activities of) all the stab!e substances and even (that of) mankind, who is the greatest of the great, free from destructive activities and omniscient become the illuminator (of the world-procers) beng enlightened the light of the self-refulgent Lord.

१० संसार रूपी नदी

अश्मन्वती रीयते संरभध्व-
मुत्तिष्ठत प्रतरता सखायः ।
अत्रा जहीमोऽशिवा येऽसऽञ्छिवान्
न्यवयमुत्तरेमाभि वाजान् ॥
यजु० ३५।१०

(अश्वमन्वत्ती) पत्थरों वाली [नदी] (रीयते) वेग से बह रही है। (संरभध्वम्) तुम संवेग से एक- मत होकर कार्य करो। (उत्तिष्ठत) उठ खड़े होओ। (सखायः) सखा बन कर (प्रतरत) पार कर जाओ। (ये अशिवा असन्) जो अशिव हैं(अत्र जहीमः) [उनको] हम यहीं छोड़ जाएं। (वयम् शिवान् वाजान्) हम कल्याणकारी वाजों को, क्रियाओं को (अभि) सामने रखकर (उतत्रेम) पार उतर जाएँ।

वेद में संसार को कहीं वृक्ष, कहीं सागर और कहीं किसी और रूप में प्रस्तुत किया गया है। यहाँ संसार को अश्मवन्ती=पथरीली नदी के रूप में पेश किया गया है। किन्तु आदेश है कि इसे पार करो। भवसागर को पार करने की बात हमारे साहित्य में अनेक स्थानों पर है। यहाँ संसार को पथरीली नदी कहने का विशेष प्रयोजन है। पथरीली नदी साधारणतया पार्वत्य प्रदेशों में हुआ करती है। उसके प्रवाह में बहुत वेग होता है। थोड़ा होने पर भी बहाव में इतना वेग होता है कि बड़े बड़े हाथी भी उसमें घुसते झिझकते हैं। मनुष्य जैसे दुर्बल प्राणी तो स्वाभाविक ही उससे भयभीत होते हैं।

साधारणतया ऐसी नदी में जल इतना थोड़ा होता है कि इन

में पोत या नौका चल नहीं सकती। नदी को पार करने का साधन बताया है।

संरभध्वम्—तुम संवेग से एक मत होकर कार्य करो।

अर्थात् पत्थरीली, वेग से बहने वाली नदी को पार करने के लिए तुम में भी संवेग होना चाहिए। किसी कार्य्य के लिए जब तक व्यग्रता न हो, व्याकुलता न हो, संवेग न हो, उस कार्य की सिद्धि असंभव है। जिस कार्य के लिए जितनी व्याकुलता अधिक होगी। व्यग्रता प्रचण्ड होगी, संवेग तीव्र होगा, उतनी उस कार्य्य की सिद्धि आसन्नः=समीप होगी। योग दर्शन में चित्तवृत्तिनिरोध का प्रमुख उपाय अभ्यास वैराग्य बताकर कहा है—

तीव्रसंवेगानामासन्नः (समाधिपाद) २१।

तीव्र संवेग वालों के लिए चित्तवृत्तिनिरोध समीप होता है।

किसी भी कार्य की सिद्धि के लिए उपाय मृदु, मध्य और तीव्र हो सकते हैं। फिर इन मृदु, मध्य और तीव्र के भी तीन तीन भेद हो सकते हैं—मृदुमृदु, मध्यमृदु, अधिमात्रमृदु, मध्यमृदु, मध्यमध्य, अधिमात्रमध्य, मृदुतीव्र, मध्यतीव्र तथा अधिमात्रतीव्र अधिमात्र तीव्र संवेग वालों के लिए सिद्ध आसन्नतम होती है।

संवेग का अर्थ केवल जोश ही नहीं, वरन् विवेकपूर्वक वेग। अपने उद्देश्य का ज्ञान हो, और उसके साथ धैर्ययुक्त जोश हो।

केवल विवेक और वेग से कोई कार्य्य सिद्ध नहीं हो सकता। बहुत से विवेकी बैठे ननुनच में ही जीवन बिता देते हैं। अनेक जोशीले जन जोश से बातें करने में सारे सामर्थ्य को अकारथ कर देते हैं। अतः वेद ने दूसरा उयाय बताया—

उत्तिष्ठत=उठ खड़े हो।

उठ खड़े होने का तात्पर्य बहुत विस्तृत है। निद्रा, आलस्य प्रमाद का त्याग करके कार्य में लग जाओ और तबतक कार्य से उपराम न हो, जब तक कि कार्य की सिद्धि न हो जाए। जैसा कि कठोपनिषत् ३।१४ में कहा है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति ॥

'उठो, जागो, उत्तम पदार्थ प्राप्त करके नितरां ज्ञानयुक्त होओ। यह मार्ग छुरे की तीक्ष्ण और दुर्लंघ्य धारा के समान दुर्गम है। ऐसा ज्ञानी लोग कहते हैं।'

वेद ने **अश्मन्वती रीयते**' कहा, उपनिषत् ने क्षुरस्य धारा **निशिता दुरत्यया**—' कहा। बात एक ही है, शब्द भिन्न भिन्न हैं।

किन्तु इसके लिए एक बात स्मरण रखना चाहिए कि अकेले इस नदी को पार नहीं कर सकते। इसके लिए अपने समान विचार आचारवान् लोगों की मण्डली बनानी होगी। वेद समानाचार-विचारवान् को 'सखा' कहता है।

इसकी आवश्यकता यों है कि एक सद्गृहस्थ अपना घर अत्यन्त स्वच्छ रखता हैं, किसी प्रकार का मल आदि उसमें नहीं रहने देता, दोनों समय श्रद्धायुक्त विधि से अग्निहोत्र, हवन भी करता है, परन्तु उसके घर के आसपास के घर बड़े मलिन और गन्दे रहते हैं। यदि उन घरों की गन्दगी के कारण कभी उस ग्राम या मुहल्ले में विषूचिका, महामारी या अन्य कोई संक्रामक रोग उठ खड़ा हुआ तो निश्चय जानिए, उसे सदा स्वच्छ रखे जाने वाले घर में भी उस मारक रोग का प्रभाव अवश्य पड़ेगा।

और दृष्टान्त लीजिए, और आजकल का दृष्टान्त लीजिए। कालेजों में छात्र पढ़ने आते हैं, कालेज में प्रविष्ट होने से पूर्व उनमें से अनेक श्रद्धापूर्वक सन्ध्यादि नित्यकर्म करते हैं किन्तु कालेज के वातावरण में आकर वे भी छोड़ बैठते हैं, क्योंकि उनमें उपहास सहने का बल नहीं होता। यदि समान विचार वालों की एक मण्डली हो, अर्थात् साधक अकेला न रह कर अपने विचार वालों का एक संघ बना ले, तो साधना में सरलता तथा सुभीता होती है। समान विचार वाले सखा परस्पर एव दूसरे की सहायता करते

हुए ऊपर उठ जाते हैं। जैसा कि कहा भी है—

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमावप्स्यथ

एक दूसरे की सहायता करते हुए परम कल्याण को प्राप्त हो।

मित्र मित्र को गिरने नहीं देता। वेद कहता है—

सखा सखायमतरद्विषूचोः—मित्र मित्र को विषमता से बचाता है।

इस प्रकार मित्र मण्डल बनाकर संसार को पार कर जाओ। नदी पार करने में बोझा बड़ी रुकावट होता है। अतः वेद कहता है—

अत्रा जहीमो अशिवा येऽसन्—

जो दोष हैं, अमङ्गल हैं, दुरित हैं उन सब को हम यहीं छोड़ते हैं।'

कामक्रोधादि दुर्व्यसन अशिव हैं उनको छोड़े बिना शिव को, कल्याण की प्राप्ति नहीं हो सकती। अमंगल को त्यागने से शिव-प्राप्ति स्वतः हो जाएगी।

११. हे मातृ भूमि !

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं
सन्तु पृथिवि प्रसूताः ॥ दीर्घं न आयुः प्रति-
बुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥

अथर्व. १२।१।६२

"हे मातृभूमि ! तेरे से उत्पन्न होने वाले पदार्थ हम सब के लिए निरोगता और आरोग्यता को बढ़ाने वाले हों। हमारी दीर्घ आयु में हम सब ज्ञान ग्रहण करते हुए (अर्थात् जागते हुए) तेरे लिए अपने आपको बलि अर्पण करने वाले होवें।" दीर्घायु होकर अपनी मातृ-भूमि की सेवा करनी चाहिए।

१२ दुर्व्यसन त्याग

उलूकयातुं शुशुलूकयातुमुत जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्रमृणरक्ष इन्द्र ।। अ० ८।४।२२

(उलक यातुम्) उल्लू की चाल को (उत शुशुलूकयातुम) और भेड़िये की चाल को (श्वयातुम्) कुत्ते की चाल को (उत) और (कोकयातुम्) हंस या चिड़िया की चाल को (सुपर्णयातुम्) गरुड़ की चाल को (उत) और (गृध्रयातुम) गिद्ध की चाल को जहि-मार दे (इन्द्र) हे ऐश्वर्याभिलाषिन् ! (रक्षः) [दुर्व्यसनरूपी] राक्षस को (दृषदा) इव—मानो पत्थर से (प्र-मृण) मसल दे ।

इस वेद मन्त्र में पशु चाल का दृष्टान्त देकर दुर्व्यसन त्यागने का उपदेश है। काकू से एक और उपदेश भी है कि पशुओं के स्वभाव का परिज्ञान करो, क्योंकि जब तक पशुओं के स्वभाव का ज्ञान न हो, तब तक उनकी चाल का त्याग कैसे बन सकता है।

सबसे पहले यहाँ उल्लू की चाल के त्यागने का आदेश है। उल्लू अन्धकार में रहना पसन्द करता है, प्रकाश से घबराता है इसी प्रकार जो जन अज्ञानान्धकार में ही मस्त रहना चाहते हैं, ज्ञानी-लोक से घबराते हैं, वे मानों उल्लू की चाल का अनुसरण करते हैं। शास्त्र में ऐसे लोगों को मूढ़ या मोहबुद्धि वाला कहा जाता है। मोह=अज्ञानावृत्त रहने की प्रवृत्ति से सब पापों की उत्पत्ति होती है। अत एव न्यायदर्शन के भाष्यकार श्रीवात्स्यायन मुनि जी ने लिखा है—

मोहः पापीयान्=मोह सबसे बुरा है।

जीव की अज्ञानता एवं मोह के कारण सब दोष होते हैं। जीव पहले ही अज्ञ है और जब दुर्भाग्यवश उसे अज्ञान अच्छा लगने लगे तब कितनी दयनीय अवस्था होगी।

जब मनुष्य की आँखों में कोई रोग हो जाए, तब आंख सूर्य्य के प्रकाश से घबराती है, और उसे अन्धकार में रहना अच्छा लगता है। उल्लू का सूर्य्य-प्रकाश से घबराना और अन्धकार को चाहना बतला रहा है कि उसकी नेत्र रचना में कोई दोष है। इसी प्रकार जो जीव मनुष्य जन्म पाकर भी ज्ञान के प्रकाश से भागता है और अज्ञान को अपना शरण मानता है, उनके अन्तः करण में भी दोष मानना पड़ता है। एक मनुष्य योनि ही ऐसी है जिसमें ज्ञानोपार्जन साधन मिलने संभव हैं। उसे प्राप्त करके ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा न करना पूर्व जन्म के किसी भयङ्कर पाप का फल है। किसी कवि ने कहा है—

यद्यपि तरणेः किरणैः सकलमिदं विश्वमुज्ज्वलं विदधे।
तदपि न पश्यति घूकः पुराकृतं भुज्यते कर्म॥

यद्यपि सूर्य्य की किरणों ने इस सारे विश्व को प्रकाशित कर दिया है, तो भी उल्लू नहीं देखता है। यह पूर्व किए कर्म का भोग है।

कवि ने ज्ञान साधनों की बहुतायत होने पर भी ज्ञान प्राप्ति न करने वाले मनुष्य को लक्ष्य करके कहा है—ऐसा मनुष्य देखता हुआ भी नहीं देखता है, सुनता हुआ भी नहीं सुनता है।

मोह के कारण राग द्वेष उत्पन्न होता है। प्रिय पदार्थों में—सुख की प्रतीति कराने वाले पदार्थों में—मनुष्य को राग होता है। दुःख का आभास कराने वाले अप्रिय पदार्थों के प्रति प्राणी को द्वेष होता है। राग और द्वेष दोनों मिलकर क्रोध को उत्पन्न करते हैं। प्राणी जिस वस्तु से राग रखता है, यदि वह प्राप्त न हो या छिन जाए तो उसे क्रोध आता है। इसी प्रकार अप्रिय पदार्थ

का यदि मेल हो जाए तब भी क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध क्या है—जिघांसा=दूसरे को मारने की इच्छा। भेड़िया बहुत हिंसक है। सिंह आदि की अपेक्षा भेड़िया अधिक क्रूर है। कारण के बिना आक्रमण कर देता है। तृप्त होने पर भी प्राणी हिंसा कर देता है, क्रोधी की तृप्ति नहीं हुआ करती। अज्ञानजन्य क्रोध को कौन शान्त कर सकता है? वेद ने इसी कारण कहा है—

शुशुलूकयातुं जहि=भेड़िये की चाल छोड़ दे।

क्रोध के साथ एक और सूक्ष्म भाव अनुस्यूत रहता है, वह है मत्सर का—दूसरे के उत्कर्ष को सहन न करने का। ऐसे मत्सरी प्राणी दूसरे को देखना तक नहीं चाहते। कुत्ते में यह स्वभाव बहुत प्रबल है। कुत्ता अपनी गली में दूसरे कुत्ते को आया देखकर गुर्राने लग जाता है, वह उस पर आक्रमण भी कर देता हैं। इसी प्रकार मत्सरी अपने सजातीय को देखकर कुढ़ने, जलने लग जाता है।

मत्सरी प्राणी चापलूस भी परले सिरे का होता है। उस का स्वभाव दब्बू होता है। कुत्ता सजातीय से तो वैर करता है किन्तु मनुष्य के आगे नाना प्रकार से पेच आदि दिखा कर चापलूसी करता है। कुत्ता जब किसी दूसरे की गली में जाता हैं, तो अपनी दुम को पहले ही से नीचा कर लेता है। इस प्रकार मत्सरी चाहे अपना प्रयोजन हो या न हो, दूसरे के मार्ग में अवश्य रोड़ा अटका देता है। कुत्ता भूखा न होने पर भी रोटी आदि उठा लाता है, और कहीं छिपा कर गाड़ देता है और प्रायः फिर भूल जाता है। इस कारण वेद ने मत्सरवृत्ति को कुत्ते की चाल से उपमा देते हुए इसे त्यागने का उपदेश किया है—

जहि श्वयातुम्=कुत्ते की चाल छोड़ दे।

जहाँ मोह, क्रोध और मत्सर की सत्ता है, वहां कामवासना भी अवश्य होती है। मनुष्य के अन्दर कामना न हो, तो उसमें मत्सर तथा क्रोध भी न रहे। पक्षियों में हंस बहुत कामी होता है।

हंस अपनी कामुकता के कारण पकड़ा जाता है। काम मनुष्य को अन्धा कर देता है। एक कवि ने काम के मुख से कहलाया है—

अन्धीकरोमि भुवनं बधिरीकरोमि जगत्

'मैं संसार को अन्धा कर देता हूं, मैं जगत को बहिरा कर देता हूं' कामी मनुष्य प्रायः सदुपदेश नहीं सुनता। नीतिकारों ने कहा है—

कामातुराणां भयं न लज्जा

काम के वशीभूत होकर मनुष्य व्याकुल हो जाता है फिर उसे किसी का डर नहीं रहता और वह सर्वथा निर्लज्ज हो जाता है।

काम बुद्धि को हर लेता है। कोक का अर्थ चिड़िया भी होता है। चिड़िया भी बहुत काम व्यस्त होती है, अतः वेद ने कहा—

कोकयातुं......।

संसार में किसी को राज्य का मान है, किसी को धनसंपत्ति का मान है, किसी को शारीरिक-शक्ति का अभिमान है, और किसी को है अपने शरीर-सौन्दर्य्य का गर्व। रूप-सौन्दर्य पर राजाओं को राज्यसंपत्ति गंवाते देखा-सुना जाता है। रूप की भट्ठी में लोगों को अपना शरीर स्वाहा करते देखा गया है। अतः गर्व का मूल प्रधान तया सुरूपता—सौन्दर्य है। गरुड़ पक्षी को अपने सुन्दर परों का बड़ा घमण्ड होता है। रूप भी नित्य नहीं है। वेद में एक स्थान पर आया है—

नभो न रूपं जरिमा मिनाति ॥ (ऋ० १। ७०। १०)।

रूप बादल की भांति है, जैसे हवा बादल को उड़ा ले जाती है, वैसे बुढ़ापा रूप को उड़ा ले जाता है।'

अतः इस पर गर्व वृथा है। भला 'सुपर्णयातुम्'—गरुड़ की चाल, अहंकार के त्यागने में है।

मोह, क्रोध, मत्सर, काम, मद या अहंकार के अतिरिक्त एक और वृत्ति है, जिसके कारण मनुष्य को बहुधा अपमानित होना पड़ता है, वह है लोभ की वृत्ति, लालच का भाव।

पीक को सोने का सिक्का समझ लालची उसमें भी हाथ डाल

देता है, फिर उसे लज्जित होना पड़ता है। पशु-पक्षियों में कदाचित् गृध्र सबसे अधिक लालची है। दूर से उसे मुर्दार मृतक=शव का पता लग जाता है। वेद कहता है—

गृध्रयातुम्……। गिद्ध की चाल छोड़ दे।

गिद्ध को मुर्दार ही खाने को मिलता है। लालची की भी ऐसी दुर्दशा होती है।

मोह, क्रोध, मत्सर, काम, मद और लोभ इन छहों में एक बात सांझी है। जब इनमें से किसी का भी प्राबल्य हो जाता है तब मनुष्य का विवेक नष्ट हो जाता है। विवेक नष्ट होने पर मनुष्य का मनुष्यत्व समाप्त हो जाता हैं। मनुष्य के मनुष्यत्व का मूलाधार विवेक=विचार ही है। यदि वह नष्ट हो गया, तो मनुष्यत्व कहां रहा ? हाँ आकार, शक्ल अवश्य शेष है।

मनुष्य का मनुष्यत्व इसी में है कि इनसे अपनी रक्षा करे। जिस वस्तु से बचा जाए, बचने का यत्न किया जाए। वेद की भाषा में उसे रक्षः=राक्षस कहते हैं। अतः वेद ने इन छहों को राक्षस नाम देकर आदेश किया है—

दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र=

'हे ऐश्वर्य्याभिलाषिन् . दुर्व्यसनरूपी राक्षस को मानो पत्थर से (पत्थर समान कठोर शस्त्र से) मसल दे, कुचल दे।'

एक मन्त्र में कहा था—

अत्रा जहीमो अशिवा ये असन् =

'संसार नदी को तैरने के लिए, पार करने के लिए अमंगल का भार यहीं छोड़ जाएँ।'

इसमें अशिवों में से कुछ एक का, जो सब से तीव्र हैं, निर्देश कर दिया गया है।

दुर्व्यसन-त्याग के उपदेश के अतिरिक्त इस वेद मन्त्र में एक गंभीर तात्त्विक उपदेश है—

'हे मनुष्य ! तू मनुष्य है। पशु-पक्षी आदि हीनयोनिगत प्राणियों का अनुकरण मत कर। वह तुझे पशु बना देगा, नीचे गिरा देगा। तू 'जीवधन्य' = सब प्राणियों में श्रेष्ठ है। तू मनुष्य है।'

जो लोग अपने आहार व्यवहार आदि के लिए सृष्टिनियम, स्वाभाविक नियम Natural Law की आड़ लेकर पशुओं का अनुकरण करते और करने का उपदेश करते हैं, मानो अपने को तथा दूसरों को पशु बनाने का यत्न करते हैं।

१२ ब्रह्म को कौन जानता है ?

यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः ।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ।।

अथ० १०।८।३७

शब्दार्थ—(या) जो (विद्यात्) जानता है (सूत्रम्) सूत्र को (विततम्) विस्तृत को (यस्मिन्) जिसमें (ओताः) पिरोयी हुई (प्रजाः) प्रजा इमाः) ये (सूत्रम्) सूत्र को (सूत्रस्य) सूत्र का (यः) जो (विद्यात्) जानता है (सः) वह (विद्यात्) जानता है (ब्राह्मणम्) ब्रह्म को (महत्) महान् ।

भाषानुवाद— ये सकल प्रजायें जिसमें ओत-प्रोत हैं उस विस्तृत सूत्र को जो जानता है और जो इस सूत्र के सूत्र को भी जानता है वही पुरुष उस महान् ब्रह्म को जानता है।

ENGLISH TRANSLATION.

One who knows the all-pervading cord wherein all these creatures are interwoven and one who knows the Cord of the cords knows the Supreme Brahma (God.)

Ath. X. 8. 37.

१३ ईर्ष्या विनाश

ईर्ष्याया ध्राजिं प्रथमां प्रथमस्याः उतापराम् ।
अग्निं हृदय्यं शोकं तं ते निर्वापयामसि ।।अ० ६।१८।१
यथा भूमिर्मृतमना । मृतान्मृतमनस्तरा ।
यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः ।।अ० ६।१८।२
अदो यत्ते हृदि श्रितं मनस्कं पतयिष्णु कम् ।
ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि निरूष्माणं दृतेरिव ।।

अ० ६।१८।३

(ईर्ष्यायाः) ईर्ष्या के (प्रथमाम्) पहले (ध्राजिम् उत) वेग को और (प्रथमस्याः) पहले के [बाद होने वाले] (अपराम्) दूसरे अर्थात् ईर्ष्या के फलस्वरूप (हृदय्यम्) हृदय में होने वाले (ते शोकम्) तेरे शोकरूप (तम् अग्निम्) उस अग्नि को करने वाले का (मनः मृतम्) मन मुरदा होता है। (अदः यत्) यह जो (ते हृदि) तेरे हृदय में (कम्) सुखाभास देने वाला (कित्) (पतयिष्णु) पतनशील, गिरने वाला (मनस्कम्) तुच्छ मन, मनोभाव (निर्वापयामसि) हम बुझाते हैं (यथा भूमिः) जैसे भूमि (मृतमनाः) मृतक के मरे मन के समान है (मृतात्) [और] मुरदे से [भी] (मृतमनस्तरा) अधिक मुर्दा दिल है (यथा मम्रुषः) [और] जैसे मरने वाले का (मनः) -मन [होता है] (एवा ईर्ष्या) इस प्रकार ईर्ष्या (श्रितम्) रह रहा है। (ततः ते) यहाँ से तेरी (ईर्ष्याम्)ईर्ष्या को (मुंचामि) छुड़ाता हूँ दूर करता हूं (इव दृते) जैसे धौंकनी से (ऊष्माणम् निः) गरमी को निकाष्लता हूँ।

दूसरे की उन्नति देखकर और स्वयं ऐसा करने में अपने को असमर्थ पाकर उस उन्नत पुरुष के प्रति हृदय में जो जलन पैदा

होती हैं उसको ईर्ष्या कहते हैं।

इन तीन मन्त्रों में ईर्ष्या की उत्पत्ति, फल तथा ईर्ष्या करने वाले की मानसिक दशा का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है।

पहले मन्त्र में ईर्ष्या के दो वेग बताए गए हैं। पहला तब पैदा होता है, जब मनुष्य अपने से किसी उन्नत, उत्कृष्ट को देखता है, उससे उसके अन्दर एक आश्चर्य भावना उत्पन्न होती है। अगले क्षण में अपने को वैसा बनने में अशक्त अनुभव कर जलन के भाव उसमें पैदा होते हैं, यह ईर्ष्या का दूसरा वेग है। इस शोक और दाह से दूसरे को हानि नहीं होती, वरन् अपना हृदय जलता है।

यों समझिए कि किसी पर हम कीचड़ फेंकना चाहते हैं तो उसके लिए पहले हमें कीचड़ उठाना होगा। अर्थात् अपने हाथों में कीचड़ लगाना होगा। इसी तरह ईर्ष्या के कारण दूसरे को हानि पहुँचाने से पूर्व हमें स्वयं अपने हृदय को जलाना होगा। जिस प्रकार दूसरे पर कीचड़ फेंकते हुए अपने ऊपर भी कीचड़ पड़ जाता है, उसी भाँति ईर्ष्या के वश दूसरे पर क्रोध करते हुए या गाली आदि देते हुए अपनी जिह्वा या मुख मलिन करने होते हैं। अर्थात् ईर्ष्या का मुख कुफल ईर्ष्यालु=ईर्ष्या करने वाले को भोगना पड़ता है। ईर्ष्या एक ऐसी आग है, जो पहले प्रदीप्त करने वाले को ही जलाती है, अतः वेद कहता है—

तं ते निर्वापयामसि=

'तेरी उस आग को—हृदय की जलन को—हम बुझाते हैं।'

ज्ञानी गुरुओं का काम है, शिष्य को ईर्ष्या से बचा रखना। योगदर्शन में, इसी कारण सुखी मनुष्य को देखकर उससे मैत्री करने और पुण्यात्मा को देखकर प्रसन्न होने का उपदेश किया गया है—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःख पुण्यापुण्यभावनातश्चित्तप्रसादनम्। (समाधिपाद सूत्र ३३)

'सुखी मनुष्यों के साथ मैत्री करने, दुखियों पर करुणा=

दया करने से, धर्मात्माओं को देखकर प्रसन्न होने से और पापियों से उपेक्षा करने से मन निर्मल होता है।'

ईर्ष्या मन को मैला करती है। अतः ईर्ष्या के स्थान में योग-दर्शन का बतलाया कार्य करना चाहिए।

अग्नि जलाकर भस्म कर देती है, यह स्वाभाविक है। ईर्ष्या अग्नि है। यह भी ईर्ष्यालु को जला कर भस्म कर देती है। ईर्ष्यालु की दुर्दशा का वेद में बहुत ही करुणाजनक शब्दों में वर्णन किया गया है। वेद कहता है—

यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा।.........

'जैसे भूमि मुरदादिल होती है, वरन् मुरदा से भी मुरदा दिल होती है। जैसे मुरदे का मन मरा हुआ होता है। ऐसे ही ईर्ष्यालु का मन होता है।'

भूमि के मुरदा होने में किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता। वेद कहता है, वह तो मुरदे से अधिक मरी हुई होती है। भूमि पर नाना प्रकार का गन्द, मल फेंका जाता है, नाना प्रकार के कुकर्म किए जाते हैं, इसी प्रकार जिसने ईर्ष्या के कारण अपने मन का नाश कर दिया है, अब उसकी मनोभूमि में चाहे कैसे ही गन्दे संस्कार और विचार आए, उसे ग्लानि नहीं होती ग्लानि कैसे हो? मन मर चुका। मन ही प्रतीत करता था, वह रहा नहीं। अब किस भी धन से आत्मा को गन्द का ज्ञान हो!

दूसरी उपमा और प्राँजल है। मरने वाला अपने सगे सम्बन्धियों को भी नहीं पहचान पाता। मरने वाले के चारों ओर सम्बन्धी इकट्ठे होते हैं और पूछते हैं—

मां जानासि, मां जानासि=मुझे पहचानता है? मुझे पहचानता है?

किन्तु वह किसी को नहीं पहचानता। यही अवस्था ईर्ष्यालु के मन की होती है। अर्थात् जिस प्रकार मृत्यु मन को मूर्छित कर देती है, सगे सम्बन्धियों की पहचान का ज्ञान नहीं रहने देती ईर्ष्या

भी मन को मूर्छित कर देती है। वेद का कहना यह है कि ईर्ष्या मृत्यु का एक रूप है। ईर्ष्या करके तुम मृत्यु को बुला रहे हो। क्या मरना चाहते हो ? मरना तो कोई नहीं चाहता। जो लोग ईर्ष्या द्वेष में फंसे रहते हैं वे अपने जीवन की घड़ियां कम कर रहे हैं। वेद दीर्घ जीवन के लिए सद्भावों को प्रथम स्थान देता है। मृत्यु से बचने, दीर्घ जीवन पाने के लिए ईर्ष्या का त्याग सर्वथा आवश्यक है। अत: वेद ने कहा—

अदो यत्ते हृदि श्रितं मनस्कं पतयिष्णुकम् ।
ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि—

'यह जो तेरा पतनशील तुच्छ मन है, जिस में ईर्ष्या बस रही है, उससे ईर्ष्या को हटाते हैं।'

अत: मन में शिवसंकल्पों की भावना सदा जागरूक रखनी चाहिए। 'तन्मे मन: **शिवसंकल्पमस्तु**' का जाप निरन्तर करना चाहिए। जब सब के लिए कल्याण भावना मन में होगी, तब वहाँ ईर्ष्या का वास न हो सकेगा।

यह निश्चय है, जिस मन में ईर्ष्या रहती है, उसमें विद्वेषाग्नि जलती रहती है, उससे ईर्ष्यालु ही जलता है। मन का स्वभाव तथा सामर्थ्य एक समय में एक ही कार्य कर सकने का है। अत: ईर्ष्या की जलन के समय उसमें सद्भावों का उदय नहीं हो पाता। जिस प्रकार भौतिक अग्नि में पड़ी वस्तु जलकर भस्म हो जाती है, उसी प्रकार ईर्ष्या-अग्नि में पड़ा मन जल कर मानो राख हो जाता है अर्थात् वह स्वकार्य नहीं कर पाता। मन का कार्य है विचार करना, विवेक करना, हिताहित-भले बुरे की परख करना, आत्म-बोध करना आदि। ईर्ष्यालु के मन में तो ईर्ष्या ने आसन लगाया है, उसे और कुछ सूझता नहीं। ईर्ष्या के कारण बुद्धि, विवेक का नाश होता है। विवेक के कारण मनुष्य मनुष्य है। जब मनुष्यत्व का साधन ही लुप्त हो गया, तब उस के मरने में सन्देह ही क्या रहा ?

सारांश यह है कि ईर्ष्या से मनुष्य का भयङ्कर पतन होता है. अत: उस से बचने का यत्न करना चाहिये।

१४. बुराई मत कर।

यश्चकार न शशाक कर्त्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम् ।
चकार भद्रमस्मभ्यमात्मने तपनं तु सः ॥

अ० ४ । १८ । ६ ॥

(यः)—जो (चकार)-[बुराई] करता है। (न कर्त्तुं शशाक) वह न कर सका। (पादम् अंगुरिम्) अपने पाँव [और] अंगुली का। (शश्रे) नाश करता है। (अस्मभ्यं) हमारे लिए(भद्रं चकार) उसने भला किया (तु आत्मने) किन्तु अपने लिए (सः) उसने (तपनम्) सन्ताप, दुःख [किया]।

संसार में कुछ ऐसे प्राणी भी हैं जिन्हें दूसरों को दुःख देने का व्यसन-सा होता है। उनका प्रयोजन सिद्ध हो या न हो, वे दूसरों को दुःख देंगे, इससे उनको एक आनन्द आता है। वेद कहता है, जरा सावधान होकर देखो तो आपको अनुभव होगा कि बुराई करने वाला बेचारा बुराई कर नहीं सका। कैसे ? दूसरे की बुराई—अनिष्ट करने से पूर्व वह बेचारा अपना अनिष्ट कर बैठता है। कर्म करनेसे पूर्व उसके लिए पहले मन में भाव पैदा होता है। बुरा कर्म करने के लिए मन में बुरा भाव पैदा होगा। अर्थात् बुरा करने से पूर्व बुरा करने वाला अपने मन में बुराई के बीज बो बैठा, अपने मन को बुरा बना बैठा, दूसरे का अनिष्ट तो जब होगा, तब होगा। अपना तो हो गया। मानो अपने हाथों अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मार बैठा। तभी वेद ने कहा—

शश्र पादमङ्गुरिम् ।—

'अपने पैर और अंगुलि को नाश करता है।'

अथर्व० ४ । १८ । ३ । में इस भाव को अधिक स्पष्ट रूप में कहा है—

अमा कृत्वा पाप्मानं यस्तेनान्यं जिघांसति।
अश्मानस्तस्यां दग्धायां बहुलाः फट् करिक्रति ॥

'कच्ची बुद्धि से पाप करके जो मनुष्य उसके द्वारा दूसरों की हिंसा करना चाहता है उसकी बुद्धि जलने लग जाती है, और उनमें अनेक पत्थर पड़ कर फट् फट् करने लगते हैं।'

जब कोई मनुष्य किसी दूसरे को दुःख देने का इरादा करता है, जब तक उसे दुःख दे नहीं लेता, तब तक उसके मन में दुःखदायिनी बेचैनी रहती है। और जब दुःख देने में सफल हो जाता है तब उसे भय सताने लगता है। राजदण्ड का भय और सताये गए से बदले का भय उसे आ घेरते हैं। वेद इन भावों को 'बड़े-बड़े पत्थर' नाम देता है। वेद कहता है जैसे अग्नि में पड़ कर पत्थर चट-चट करने लगते हैं और चटक-चटक कर पास ठहरे मनुष्य को हानि पहुँचाते हैं, इसी भाँति कच्ची बुद्धि से पाप होता है। उसके कारण वह जलने लगती है, पाप की पूर्वावस्था और पाप करने के बाद की अवस्था मानो पत्थर बनकर उस जलती हुई बुद्धि में पड़ते हैं, और चटक-चटक कर पास में रहने वाले पापकारी आत्मा को ही दुःख देने लगते हैं। शायद इसी का भाव लेकर लोग कहते हैं—

पापी के मारने को पाप महाबली है।

इसी कारण वेद ने कहा कि पापी दूसरे की हानि चाहता हुआ भी नहीं कर सकता, वरन्

चकार भद्रमस्मभ्यम् =

मनुष्य को दुःख मिलता है अपने किसी पाप के कारण। जब मुझे कोई दुःख मिले और मैं प्रसन्न मन से उसे सहन कर लूँ और मन में यह भाव धरूँ कि अच्छा हुआ कि कर्म की बही से एक कर्म रेखा तो कटी। उसे मैं समझूँ प्रभु का अनुग्रह। प्रभु मेरे पिता हैं, वह मेरी माता हैं। माता पिता सन्तान का अमंगल कभी नहीं चाहते। वे तो सदा सन्तान का सुख चाहते हैं। उन स्नेहमयी जगदम्बा की यह ताड़ना भी मेरे हित के लिए है। इस तरह विचारने से

प्रतीत होता है कि मुझे दुःख देने वाले ने दुःख देकर मेरा भला किया है।

युधिष्ठिर वन में थे, वहाँ भी दुर्योधन उन्हें दुःख देने का यत्न करता रहता था, किन्तु युधिष्ठिर धैर्य्य रखते थे, वे व्याकुल न होते थे, इससे संसार को युधिष्ठिर की धृति का ज्ञान हुआ, उसके गुणों का प्रकाश हुआ, इस बात को लेकर व्यास मुनि ने युधिष्ठिर से कहा–

प्रकाशितत्वन्मतिशीलसाराः कृतोपकारा इव विद्विषस्ते।=

तेरे शत्रु तेरे बड़े उपकारी हैं, क्योंकि उन्होंने संसार में तेरी बुद्धि और चरित्र के बल को प्रकाशित किया है।'

इस तरह धैर्य्य से विरोधी के विरोध और उसकी बुराई को सहन करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है। इससे हमारा भला ही होता है। अतः वेद ठीक कहता है—

चकार भद्रमस्मभ्यम्।

किन्तु

आत्मने तपनं।=

'अपने लिए तो सन्ताप=जलन ही करता है।'

यह दो तरह से होता है। जब दुष्ट देखता है कि मेरे दुर्व्यवहार के कारण अगला विचलित नहीं होता, तब वह और जलता है। इस तरह दूसरों का अनिष्ट करने से अपने लिए जलन ही होती है। दूसरा—उस कर्म का फल भोगना पड़ता है। कहा है—

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म्म शुभाशुभम्।=

'भला बुरा कर्म्म अवश्य भोगना पड़ता है।'

बुरे कर्म्म का फल अच्छा हो ही नहीं सकता। एक मुसलमान कवि ने कहा है—

अज़ मकाफ़ाते अमल गाफिल मशौ।

गन्दुम अज गन्दुम बिरोयद जौ अज जौ॥=

'कर्मफल से असावधान मत हो। देख, गेहूँ से गेहूँ पैदा होता है और जौ से जौ।'

अपने लिए बुरे बीज बोकर पापी अपना भविष्य बिगाड़ लेता है, इस वास्ते बुरा कर्म=दूसरे का अनिष्ट, उसके लिए—**आत्मने तपनं** हो जाता है।

१५ आत्मदर्शन

ओ३म् । न विजानामि यदि वेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि ।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥

ऋ० १ । १६४ । ३७

(यत् इव) जो कुछ, जैसा (इदम्) यह (अस्मि) मैं हूँ, यह मैं (न+विजानामि) विशेष रूप से नहीं जानता हूँ । (निण्यः) मूढ़सा, भोला (पंजाबी में न्याणा) मैं (मनसा+सनद्धः) मन से बंधा हुआ, जकड़ा हुआ (चरामि) विचर रहा हूँ । (यदा) जब (मा) मुझको (ऋतस्य) ऋत का, सत्य ज्ञान का (प्रथमजाः) प्रथमोत्पादक प्रभु (अगान्) प्राप्त होता है (आत्+इत्) तब ही (अस्याः) इस (वाचः) वाणी के (भागम्) भजनीय, वाच्य को (अश्नुवे) प्राप्त करता हूँ ।

कठोपनिषत् में कहा है—

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥ कठो० १।६।१२

आत्मा न वाणी के द्वारा प्राप्त होता है, न मन से और न आँख से । [अर्थात् ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां आत्मा का ज्ञान कराने में असमर्थ हैं; मन तो इन इन्द्रियों के बताये ज्ञान का धनी है, वह कैसे आत्मा का ज्ञान कराये] जिस को यह भान हो गया कि आत्मा है, उसे और कैसे बताया जाये ?

उपनिषत् कह रही है—आत्मा 'न मनसा प्राप्तुं शक्यः' मन के द्वारा नहीं मिल सकता, और मैं निण्य=न्याणा हूँ । मनसः सन्नद्धः =मन के चक्कर में फंस गया हूँ, मन के बन्धन में बन्ध कर जहाँ मन ले जाता हैं, वहाँ जाता हूं, मैं न्याणा कैसे कहूं कि मैं क्या हूँ, कौन हूं, कैसा=किस्वरूप हूं ? इस सब को 'न विजनामि' मैं नहीं जानता हूँ ।

अनुमान के द्वारा यदि कुछ जानूँगा, तो वह सामान्यज्ञान होगा ।

धुआं देख कर अग्नि का ज्ञान होता है किन्तु किसका अग्नि—तिनकों का, गोमय का या लकड़ी का, यह ज्ञान तो नहीं होता, यह तो प्रत्यक्ष से होता है। इसी प्रकार मृत शरीर और अ-मृत शरीर को देख कर किसी चेष्टा वाले का, चेष्टा की इच्छा वाले का ज्ञान करूं तब भी 'यदिवेदमस्मि' जो कुछ मैं हूं, इसको नहीं जानता। यदि मैं अहंकार करूं—'सुवेदेति' मैं भली भाँति जानता हूँ। तो साक्षात्कारी ऋषि कहते हैं—

दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ (केनो० २।६)

सचमुच तू बहुत ही थोड़ा जानता है।

अतः मैं कहता हूँ—न विजानामि मैं विशेष नहीं जानता हूँ। हाँ यदि मुझ पर ईश्वर कृपा हो जाए, ईश्वर के दर्शन हो जायें, तो मैं इस 'मैं' 'मैं' करने वाले को भी जान जाऊँ। वेद कह ही तो रहा है—**यदा........भागमस्याः**। ऋषि इसी का अनुवाद कर रहे हैं—

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः।

(कठो० १।२।२०)

विधाता की कृपा से ही निष्काम-कर्म्मा, अतएव शोक से रहित, रागद्वेष से शून्य महात्मा ही आत्मा की महिमा को देख पाता है।

ईश्वर कृपा कैसे मिले? ईश्वर की अनन्य भक्ति से; सब ओर से चित्त हटा कर उस परम गुरु के अर्पण करने से। योगिराज पतंजलि जी ने कहा भी है—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा (१। २३)

ईश्वर की अनन्य भक्ति से चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है।

बाह्य विषयों से सर्वथा हट जाने का नाम निरोध है। तब आत्मा के अन्दर बसने वाले अन्तरात्मा परमात्मा के दर्शन और अनुग्रह होते हैं। उनका फल है—

ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च (यो० १।२९)

ईश्वरप्रणिधान से अपने चेतन स्वरूप का ज्ञान तथा विघ्नों का

विनाश होता है।

अपना आपा जानना है तो ईश्वरप्रणिधान करो। उपनिषत् ने और योगदर्शन ने जो बात इशारों इशारों में बतलाई, वेद ने उनसे करोड़ों वर्ष पहले बहुत स्पष्ट खोल कर रख दी है। पिता अपने पुत्रों को कैसे खोल कर न समझाये, वह क्यों कर छिपाए ? छिपाने से उस के पुत्रों का कल्याण नहीं हो सकता। किन्तु हम मन के फन्दे में फंसे उसे जानने की चेष्टा ही नहीं करते। मन प्रकृति का पुत्र है, उस ने जीव को बाँध रखा है ! समझे !

....

ईश्वरानुग्रह-प्राप्ति का उपाय—

भगवान् स्वभाव से कृपालु हैं। यह सृष्टि उनकी कृपा का सबसे बड़ा प्रमाण है। अपना कोई प्रयोजन न होते हुए परमेश्वर ने संसार रचा केवल जीवों के उद्धार के लिए स्वाभाविक कृपालु की कृपा प्राप्त करना कुछ बहुत कठिन नहीं है। उस की कृपा प्राप्त करने के लिये अपने आत्मा और अन्तःकरण को उसकी ओर प्रवृत्त करो। परमात्मा माता पिता के समान कृपालु है। जब वह अपने वत्स जीव को अपनी ओर प्रवृत्त देखता है तो वह कृपालु अपने अनन्तशक्तिरूप हाथों से मानो उस प्रेमी को उठा कर अपनी गोद में बिठा लेता है।

अनन्य मन से परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना करना, तथा उसके आदेश में रह कर तदनुसार अपना आचरण बनाना प्राणपण से तन मन धन लगा कर लोकोपकार में अपने आप को समर्पित कर देना, स्वार्थ त्याग कर परार्थ-साधन में तत्पर रहना, सदा सत्कर्मों को करना, अकर्मण्य न रहना, परमेश्वर के न्याय, दया, उपकार आदि गुणों को अपने में धारण करना, विषयवासना से ऊपर उठ कर चंचल चपल चित्त को अचल अविचल करने का पुरुषार्थ करना आदि परमेश्वर की ओर प्रवृत्त होने के साधन हैं। जो इन साधनों को अपनाता है, परमेश्वर भी उसे अपनाता है अर्थात्

उसे अपने अनुग्रह का पात्र बनाना है। जैसे बालक जब माता की ओर चलता है तब माता आगे आकर बालक को गोद में ले लेती है कि कहीं बालक को चोट न लग जाए? इसी भाँति जब कोई साधक सर्वात्मना जगदम्बा की ओर चलता है तो जगतमाता भी उसका स्वागत करती है, अत्यन्त प्रीति से अपनाती है, सब प्रकार के पाप सन्ताप पातकों से बचाती है।

१६ मृत्यु दूर रहे

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते अन्य इतरो देवयानात्। चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजाꣳरीरिषो मोत वीरान्॥

यजु० ३५।७

शब्दार्थ—(परम्) प्रकृष्ट (मृत्यो) मृत्यु (अनु) अनुकूलता (परा) इहि दूर जावे (पन्थाम्) मार्ग को (मार्गम्) मार्ग को (यः) जो (ते) तेरा (अन्यः) दूसरा (इतरः) भिन्न (देवयानात्) दिव्यगुणविशिष्ट पुरुषों के मार्ग से (चक्षुष्मते) आँख वाले (शृण्वते) सुनते हुए (ते) तेरे लिए (ब्रवीमि) उपदेश करता हूँ (मा) मत (नः) हमारी (प्रजाम्) प्रजा को (रीरिषः) हिंसा कर (मा) मत (उत) और (वीरान्) वीरों को।

भाषानुवाद—(हे मनुष्य! सम्प्रति) जो तेरा (जीवन व्यतीत करने का) मार्ग दिव्यगुणविशिष्ट पुरुषों के मार्ग से भिन्न है उस मार्ग से मृत्यु दूर रहे जिससे तू परम उत्कृष्ट देव मार्ग को प्राप्त हो अतः मैं तुझ आँख वाले तथा सुनने वाले के लिए उपदेश देता हूँ कि तू हमारी प्रजाओं और वीरों को हिंसा न करे।

ENGLISH TRANSLATION.

O man! The pathway which thou traversest now is different from the pathway of the enlightened persons, may death walk far from it so that thou mayest be able to persue the supreme path of the enlightened persons. I impart instruction to thee O man! who hast been endowed with the powers of seeing and hearing. Do not harm my creatures and do not injure our heroes. Yaj. XXXV. 7.

१७ मीठी नज़र

ओ३म् । तव स्वादिष्ठाग्ने संदृष्टिरिदा चिदह्न इदा चिदक्तोः
श्रिये रुक्मो न रोचत उपाके (ऋ० ४।१०।५)

हे (अग्ने) अग्ने ! (तव) तेरी (स्वादिष्ठा) स्वादिष्ट= अत्यन्त स्वादु=अतिशय मीठी (संदृष्टि) उत्तम दृष्टि, नेक नज़र (इत्) ही (अह्न+चित्+आ) दिन से लेकर ((अक्तोः+चित्+आ) रात तक (इत्) भी (रूक्मः+न) सुवर्ण की भाँति (उपाके) समीप में (श्रिये) कल्याण के लिए (रोचते) चमक रही है।

कविजन बताते हैं, दृष्टि बहुत ऋष्टि हैं इससे कइयों को घायल होते सुना गया है। कामी जनों की ऐसी बहुत सी कथायें हैं, जिनमें कमनीय के एक दृष्टिक्षेप से कामी उन्मत्त हो गया।

क्रोधी मनुष्य की दृष्टि लाल हो जाती है, उसकी आँख से आँख मिलाना कठिन हो जाता है।

बालक, जो अभी मनोगत भावों को पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं कर सकता, विह्वल होकर जब माता को देखता है, तो माता की ममता कैसे प्रदीप्त होती है ? माँ की इस दशा का मूल क्या है ? बालक की दृष्टि।

क्रोध या उदासी की दशा में बालक माँ के सामने जाता है। माता उसे स्नेहमयी दृष्टि से देखती है, उसका क्रोध या उदासी के भाव कहीं विलीन हो जाते हैं। किसके प्रभाव से ? माता की ममता भरी स्नेहसिक्त संदृष्टि से।

दृष्टि की बड़ी महिमा है, यह हंसतों को रुला देती है। रोतों को हंसा देती है। मित्र को शत्रु बना देती है और शत्रु को प्राणपण से प्रीति करने वाला सुहृद बना देती है।

सन्त जन सुनाते हैं किसी महापुरुष का कृपाकटाक्ष अधम से अधम पुरुष का बेड़ा पार कर देता है। उस की चित्त नदी जिसका प्रवाह

पाप सागर की ओर था, प्रवाह बदल कल्याण समुद्र की ओर बहने लगती है।

मनोविज्ञान के आचार्य्य बतलाते हैं कि दृष्टि भीतर के मनोभावों का निदर्शक होती है। तभी संसार में 'ललचाई आँख' 'क्रोध से लाल आँख' 'प्रेम भरे नेत्र' 'मदमाते अलसाते नयन' आदि प्रयोग होते हैं। भिन्न-भिन्न भावों की अभिव्यक्ति के समय आँख में कोई एक अवर्णनीय सा परिवर्तन होता है। ज्ञानी और मूढ़ बिना सिखाये इसे जानते हैं।

इस मनोवैज्ञानिक आकृतिविज्ञानमय दृष्टिभेद को लक्ष्य कर कामना की गई है—

तव स्वादिष्ठाग्ने संदृष्टिः

अग्ने! तेरी अत्यन्त मीठी नजर—

मार्ग दिखाने वाला आँख मैली कर ले, तो समझ लो कि यह अमार्ग में पटकेगा। गुरु की कुदृष्टि हुई तो जान लो विद्या में बाधा आई। गुरुओं के गुरु की यदि संदिृष्टि नही तो फिर क्या गति होगी? जिसके एक कुदृष्टि निपात से यह समस्त जगत् समाप्त हो सकता है, उसकी कुदृष्टि से कितना अनिष्ट हो सकता है? अतः याञ्चा है—

तव स्वादिष्ठाग्ने संदिृष्टः

इस वेद मन्त्र से यह प्रतीत होता है कि भगवान् की तो सदा संदृष्टि चमक रही है। फिर संसार क्यों व्याकुल है? उसकी संदृष्टि की ओर पृष्ठ कर देने से दृष्टि सामने पर ही प्रभाव करती है। जब हमने पीठ फेर ली, या आँख मूँद ली, तब फिर संदृष्टि हमारी दृष्टि से ओझल हो गई। और हम संदृष्टि के पुनीत फल से वंचित हो गए।

किन्तु जिन्होंने तेरी संदृष्टि पा ली, वे—

नामानि चिद् दधिरे यज्ञियानि भद्रायां ते रणयन्त संदृष्टौ॥

(ऋ० ६।१।४)

तेरी भली संदृष्टि में आनन्द करते हुए पूज्य नामों को धारण करते हैं।

भगवान् की सन्दृष्टि-स्वादिष्ट सन्दृष्टि जिन पर पड़ गई। उनके नामों की पूजा न होगी, तो किन की होगी ?

जो भद्र है वह स्वादिष्ट है। अभद्र, अमंगल किसे स्वादु लग सकता है ? वह तो सबको कटु लगता है।

प्रभो ! हमें क्या तेरी सन्दृष्टि न दीखेगी, हमारे नेत्रों पर का परदा तू ही हटायेगा। प्रभो !

यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ॥ईशो. १६

तेरा तेजोमय अतिशय कल्याण कारी जो रूप है, उसे मैं देखता हूं।

प्रभो ! 'पश्यामि' कहने का अधिकार कब मिलेगा ?

वेद कहता है—

न तं विदाथ य इमा जजान ॥

ऋ० १०।८२।७

पदार्थ–(न) नहीं (तम्) उसको (विदाथ) जानते (यः) जो (इमाः) इन सबको (जजान) उत्पन्न करता है।

अन्वय—तुम उसको नहीं जानते जिसने इन सबको उत्पन्न किया।

You know him not who created all this.

१८ परिच्छिन्न आत्मा

ओ३म् । अव्यचसश्च व्यचसश्च बिलं विष्यामि मायया ।
ताभ्यामुद्धृत्य वेदमथ कर्म्माणि कृण्महे ॥ (अ० १९।६८।१)

(अव्यचसः) अव्यापक, परिच्छिन्न (जीवात्मा) (च+च) और (व्यचसः) व्यापक (परमात्मा) के (बिलम्) भेद को, रहस्य को, ठिकाने को (मायया) बुद्धि से (वि+स्यामि) खोलता हूँ (ताभ्याम्) उन दोनों से अथवा उन दोनों के लिए (वेदम्) वेद को (उद्धृत्य) ग्रहण करके (अथो) इसके अनन्तर (कर्म्माणि) कर्मों को (कृण्महे) हम करते हैं ।

जीवात्मा अथवा अपना आपा तथा परमात्मा के संबंध मे संसार में बड़ा विवाद है । कई लोग तो इन दोनों की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते । जो स्वीकार करते हैं उनमें भी इनके संबन्ध में एक मत नहीं है । परमात्मा को कोई सातवें आस्मान पर, कोई चौथे आस्मान पर, कोई क्षीरसागर में और कोई कहीं बतला कर उसको परिच्छिन्न, अव्यापक, एकदेशी बतला रहा है । एकदेशी अवश्यमेव अल्पज्ञ और अल्प सामर्थ्य वाला होगा, उससे इस विशाल ब्रह्माण्ड की रचना, पालना, संहारण नहीं हो सकती । इस दोष का निराकरण करने के विचार ही से मानों वेद में कहा है कि वह व्यापक हैं । जीव को अव्यापक बतलाया गया हैं । इन दोनों का भेद, इन दोनों का रहस्य ज्ञान से जाना जा सकता है, इसी वास्ते कहा—

बिलं विष्यामि मायया ।

बुद्धि से, ज्ञान से इनका भेद, रहस्य खोलता हूँ ।

प्रत्यक्ष पदार्थों के विषय में भी बहुधा विवाद हुआ करते हैं, परोक्ष पदार्थों का तो कहना ही क्या है । किन्तु भगवान् ने कृपा करके जो ज्ञान दिया है, उससे काम लो; दोनों के भेद को, ठिकाने को ज्ञान से खोलो । ऋषि ने कहा भी है—

हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तः, य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।

(श्वेता. ४ । १७)

हृदय से, बुद्धि से तथा मन से ही इसका बोध होता है । जो इस तत्व को जान लेते हैं, वे अमृत हो जाते हैं, मौत से निर्भय हो जाते हैं।

जिन्होंने उस अविनाशी, अमर को जान लिया उन्हें मृत्युभय कहाँ रहा ? किन्तु उसे जानने के लिए मन बुद्धि तथा हृदय सभी का सहयोग होना चाहिए । मन बुद्धि, मनन और अध्यवसाय उसका निश्चय करायेंगे । मस्तिष्क को तर्क चुप करा सकता है किन्तु सूक्ष्म भावनाओं के धनी हृदय ने यदि उसे धारण न किया तो फिर नास्तिकता के गहरे गर्त्त में गिरना होगा । इस वास्ते हृदय को भी साथ मिलाओ। ऋषि श्वेताश्वतर ने बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा—

अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः ।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोपि दृष्टः ॥ (५।८)

जो ज्ञानगम्य है, सूर्य समान तेजस्वी है, संकल्प करता है, अहंकारवान् है, वह अत्यन्त सूक्ष्म आत्मा अपर है; वह बुद्धि तथा अपने गुणों से दीखता है ।

सचमुच वह 'अपर' है, पर तो परमात्मा है । बुद्धि के गुण आत्मा का ज्ञान करा रहे हैं । इच्छा द्वेष, सुख, दुःख, ज्ञान और प्रयत्न, ये आत्मा के गुण आत्मा का अनुमान करा रहे हैं। इस अनुमान से आत्मा को जान कर जो साधनों का अनुष्ठान करता है, उसे आत्मा साक्षात्कार, प्रत्यक्ष भी होता है, तभी कहा—

अपरोपि दृष्टः

अपर आत्मा के भी दर्शन होते हैं ।

इन्हीं ऋषिप्रवर ने आत्मा का परिमाण बताया है—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥ (५।९)

बाल के अगले हिस्से के सौ टुकड़े कर दिये जायें, उस सूक्ष्म सौवें हिस्से के भी सौ हिस्से कर दिये जायें, उस अत्यन्त सूक्ष्म भाग के

समान जीव है किन्तु उसमें सामर्थ्य बहुत है।

महर्षि दयानन्द ने भी कहा है—

'जीव एक सूक्ष्म पदार्थ है जो एक परमाणु में भी रह सकता है, उसकी शक्तियां शरीर में प्राण बिजली और नाड़ी आदि के साथ संयुक्त हो रहती हैं, उनसे सब शरीर का वर्तमान जानता है।'

श्वेताश्वतर और दयानन्द दोनोंने यह रहस्य वेद तथा योग द्वारा जाना। अथर्ववेद में कहा है—

बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया॥

(अथर्व. १०।८।२५)

एक [जीवात्मा] बाल से भी अधिक सूक्ष्म है, और एक [प्रकृति] मानो नहीं दीखती है, उससे अधिक सूक्ष्म और व्यापक जो परमात्मा देवता है, वह मेरी प्यारी है।

अर्थात् परमात्मा जीव से सूक्ष्म और जीव में व्यापक है। अर्थात् वह सदा अंगसंग रहने वाला है, अतः जीव को उससे प्यार करना चाहिए। कल्याणाभिलाषी को प्रकृति के प्यार से ऊपर उठ कर परमात्मा से प्रीति लगानी चाहिए। कितना कठिन और कितना सरल है यह कार्य्य। यथार्थ ज्ञान के बिना यह नहीं सिद्ध होता।

ध्यान दीजिये, पहले वेद, पीछे कर्म्म। अर्थात् ज्ञान के बिना कर्म्म का अनुष्ठान हो ही नहीं सकता।

तभी शास्त्रों में कर्म्म से पूर्व ज्ञान का नाम आता है।

उत्तरार्ध एक और गंभीर तत्त्व का संकेत कर रहा है। ज्ञान का पर्य्यवसान अनुष्ठान है। वह ज्ञान जिसे कर्म्म में परिणत न किया जा सके, वह ज्ञान जिससे कर्म्म करने में सहायता न मिले, ज्ञान नहीं है, ज्ञानाभास है। इससे स्पष्ट होता है वेद कर्म्मण्यवाद का पोषक है, कर्म-त्याग का नहीं। उचित भी यही है। परिच्छिन्न जीवात्मा कर्म के बिना रह ही नहीं सकता। वह अपने चहुँ ओर के पदार्थ जानना चाहता है, उसके लिए उसे गति करनी होती है। गति का नाम ही कर्म्म है। अर्थात् कर्म्म आत्मा का स्वभाव है।

१९ हिंसक को मोक्ष-धन नहीं

ओ३म् । न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते न स्रेधन्तं रयिर्नशत् ।
सुशक्तिरिन्मघवन्तुभ्यं मावते देष्णं यत्पार्ये दिवि ॥

सा० उ०४।४।३।२

(दुष्टुतिः) बुरी कीर्ति वाला, दुष्ट साधनों वाला, (द्रविणोदेषु) धनदाताओं में (न) नहीं (शस्यते) गिना जाता, अच्छा माना जाता। (स्रेधन्तम्) हिंसक को (रयिः) धन, मोक्षधन, (न) नहीं (नशत्) प्राप्त होता। हे (मघवन्) पूजनीयधनवन् भगवन्। (मावते) मेरे जैसे के लिए (पार्य्ये) पार पाने योग्य (दिवि) प्रकाशावस्था में (देष्णं) देने योग्य (यत्) जो धन है, (सुशक्तिः) उत्तम शक्ति वाला मनुष्य (इत्) ही (तुभ्यम्) तेरे निमित्त [उसको प्राप्त करता है]।

इस मन्त्र में जिस धन की चर्चा है, वह साधारण धन-धन धान्य मकान पशु आदि नहीं। वरन् शान्ति-रूप धन है। वेद में कहा भी है—शं पदम् मघं रयीषिणे (सामवेद संहिता) धनाभिलाषी के लिए शान्ति-रूपी धन ही पद=प्राप्त करने योग्य है। लौकिक धन-धान्य तो चोर डाकुओं के पास भी होता है। वैसे भी धन की अधिक मात्रा प्रायः अन्याय अत्याचार अनाचार से ही कमाई जाती है। किन्तु इस धन से बुद्धिमानों की तृप्ति नहीं होती, याज्ञवल्क्य जब घर छोड़कर संन्यासी बनने लगे, तो उन्होंने धर्म-पत्नी मैत्रेयीसे कहा—आ मैत्रेयी, तेरा बटवारा कर दें। इस पर मैत्रेयी ने पूछा—

> यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्,
> स्यान्न्वहं तेनामृत । (बृहदा. ४।५।३)

क्या भगवन्! यदि यह धन धान्य से पूर्ण सम्पूर्ण पृथिवी मेरी हो जाये तो क्या मैं अमृत हो जाऊँगी?

सत्यदर्शी यथार्थवक्ता याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं—

नेति नेति···यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्याद्, अमृतत्वस्य नाशास्ति वित्तेन (बृहदा. ४।५।३)

नहीं, नहीं······जैसे धनधान्य सामान वालों का जीवन होता है, वैसे ही तेरा जीवन भी होगा। अमृतत्व की=मुक्तिकी आशा=संभावना धन से नहीं हो सकती।

मैत्रेयी ने इस पर कहा—

येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्य्यां यदेव भगवान वेद तदेव मे ब्रूहि (बृहदा. ४।५।४)

जिससे मुक्त न हो सकूँ, उससे मेरा क्या प्रयोजन ? महाराज ! मोक्ष का जो भी साधन आप जानते हैं, वही मुझे बताइए।

धन के प्रति कितनी ग्लानि है। कितना गहरा निर्वेद है। सचमुच मोक्षाभिलाषी, शांति की कामना वाला इस चंचल धन को कैसे चाहेगा। जिसके सम्बन्ध में वेद स्वयं कहता है—

ओ हि वर्त्तन्ते रथ्येव चक्राऽन्यमुन्यमुप तिष्ठन्त राय:

(ऋ० १०।११७।५)

अरे धन तो सचमुच एक से दूसरे के पास जाते हुए रथ के चक्रों की भाँति अदलते बदलते रहते हैं।

ऐसे विनश्वर भौतिक धन में अविनाशी के अभिलाषी की अभिलाषा कैसी !!!

इसी वास्ते प्रकृत मन्त्र में कहा है—

न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते

दुष्ट साधनों वाला मनुष्य धनदाताओं में नहीं गिना जाता।

जब उसके पास है नहीं, तब देगा कहाँ से, वेद पाने की बात न कह कर देने की कहता है। क्योंकि वेद दान की महत्ता का प्रचारक है। ऋग्वेद ने तो स्पष्ट कह दिया—

न दुष्टुती मर्त्यो विन्दते वसु (ऋ. ७।३२।२१)

मनुष्य दुष्ट उपायों से धन नहीं प्राप्त कर सकता।

दूसरे चरण में बहुत स्पष्ट कहा है—

न स्रेधन्तं रयिर्नशत्

हिंसक भी धन नहीं प्राप्त कर सकता।

कितना ही शास्त्रवेत्ता क्यों न हो, जब तक हिंसादि दुष्ट उपायों को नहीं छोड़ता, तब तक शान्तिधन, आत्म-संपत्ति को नहीं प्राप्त कर सकता। यम ने मार्मिक शब्दों में नचिकेता को समझाया था...

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् (कठो. २।२२)

जो दुराचार से नहीं हटा, जो चंचल है, जो प्रमादी है, सावधान नहीं है, जिसके मन में क्षोभ है, वह बुद्धि से, ज्ञान से इस आत्मा को नहीं प्राप्त कर सकता।

आत्मज्ञान के बिना शान्ति नहीं। जब प्रमाद तथा अनाचार से आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। तब उसकी प्राप्ति के बाद प्राप्त होने वाली शान्ति—सम्पत्ति की प्राप्ति की आशा कैसे की जा सकती।

वेद कहता है, देने योग्य धन को कोई शक्तिशाली ही प्रभुसमर्पण की भावना से प्राप्त कर सकता है।

बलहीन का संसार में ही ठिकाना नहीं, परलोक की तो बात ही क्या? वहाँ के लिए उपर्युक्त धन कमाने को बड़ा बल चाहिए।

वेद कहता है —

यस्तन्नवेद किमृचा करिष्यति।

ऋ० १।१६४।३९

पदार्थ—(यः) जो (तत्) उसको (न-वेद) नहीं जानता (किम्) क्या (ऋचा) वेद से (करिष्यति) करेगा?

अन्वय—जो उस ब्रह्म को नहीं जानता वह वेद से क्या करेगा।

He, who knows him not, what will he avail of the veda.

२० वृद्ध कौन ?

ओ३म् ये अग्ने नेरयन्ति ते वृद्धा उग्रस्य शवसः ।
अप द्वेषो अप ह्वरो ऽन्यव्रतस्य सश्चिरे ।। (ऋ०५।२०।२)

(ते) वे (वृद्धाः) वृद्ध हैं, हे (अग्ने) प्रकाशमय नेतः ! (ये) जो (न) नहीं (ईरयन्ति) काँपते हैं, और जो (उग्रस्य) तीव्र (शवसः) बलधारी (अन्यव्रतस्य) परमात्मा से भिन्न के उपासक के, दस्यु के (द्वेषः) द्वेषभाव को (अप) दूर करते और (ह्वरः) कुटिलता को (अप+सश्चिरे) दूर करते हैं ।

साधारण दशा में बूढ़ा उसे कहते हैं जो आयु में किसी से बड़ा हो, अर्थात् जो संसार में पहले आया हो । वैसे संसार में कई प्रकार के वृद्ध होते हैं— ज्ञानवृद्ध, बलवृद्ध, धनवृद्ध, वयोवृद्ध आदि । वयोवृद्ध को सबसे निकृष्ट वृद्ध मानते हैं ।

वेद इस मन्त्र में एक ऐसे वृद्ध की चर्चा करता है, जो इन सबसे निराला है । वेद के शब्दों में वस्तुतः वृद्ध है भी वही । संसार में ईश्वर विश्वासी तथा अनीश्वरवादी दो प्रकार के लोग हैं । वेद कहता है—

ते वृद्धा, उग्रस्य शवसः । अपद्वेष······अन्यव्रतस्य

बूढ़े वे है जो तीव्र बलधारी नास्तिक के द्वेष को दूर कर दें । निरन्तर धर्म प्रचार, सदुपदेश, सद्व्यवहार, सद्युक्ति के द्वारा जो नास्तिक के भीतर से ईश्वर तथा ईश्वरविश्वासियों के प्रति द्वेष भावना को नष्ट कर दें ।

स्वयं ईश्वर का मानना कठिन नहीं, किन्तु दूसरों को ईश्वर-विश्वासी बनाना बहुत बड़ा काम है । अतः जो इसे कर दे वह वृद्ध ।

बहुधा लोग अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए कुटिलता का आचरण करते हैं । कुटिल लोगों में यह नीच भावना ऐसा घर कर लेती हैं कि उनका स्वभाव सा बन जाती है । और..................

स्वभावो दुरतिक्रमः स्वभाव कठिनता से टलता है।

जो किसी के स्वभाव से हटा दे; उनमें परिवर्तन कर दे, उसके महान् होने में, वृद्ध होने में कोई सन्देह नहीं है। वृद्ध की एक पहचान और भी कही है—

ये—नेरयन्ति—जो नहीं काँपते।

अर्थात् जो अपने लक्ष्य, से उद्देश्य नहीं टलते, चाहे कितनेही विघ्न क्यों न हों। नीतिकारों ने कहा भी है—न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः। धृतिशील न्याययुक्त मार्ग से पग नहीं हटाते। अधम लोग विघ्नों के भय से कार्य आरम्भ ही नहीं करते। मध्यम लोग विघ्न आने पर हिम्मत हार बैठते हैं और कार्य को बीच में छोड़ देते हैं किन्तु उत्तम पुरुष बार बार विघ्नों की मार खाकर भी कार्य को नहीं छोड़ते, वरन् पूरा करके दम लेते हैं। इसी भाव का द्योतक है—

ये—नेरयन्ति, जो नहीं काँपते।

सार यह कि नास्तिकों को आस्तिक बनाना, उनसे तथा दूसरों से द्वेषभाव छुड़ाना कुटिलता हटा कर ऋजुता सरलता स्थापित करना वृद्धका कार्य है और इसमें चाहे उसे कितनी पीड़ा और क्लेश क्यों न आये; इसे न छोड़े।

वेद कहता है—

ओ३म् खं ब्रह्म ॥

यजु० ४०।१७

पदार्थ—(ओ३म्) रक्षक (खम्) आकाश (ब्रह्म) महान्, परमेश्वर।।

अन्वय—महान् ब्रह्म आकाशवत् व्यापक है।

God is, like the sky, greatest of all.

२१ भगवान् के दान की निन्दा मत करो

ओ३म्। मा निन्दत य इमां मह्यं रातिं देवो ददौ मर्त्याय स्वधावान्। पाकाय गृत्सो अमृतो विचेता वैश्वानरो नृतमो यह्वो अग्निः ।। (ऋ० ४।१५।२)

(मा) मत, उसकी (निन्दत) निन्दा करो (यः) जिस (स्वधावान्) स्वशक्तिसम्पन्न [परनिरपेक्ष] (अमृतः) अविनाशी (विचेताः) विशेषज्ञ (वैश्वानरः) सब नरों के हितकारी (यह्वः) बलधारी (गृत्सः) उपदेश-कारी (अग्निः) सबकी उन्नति करने वाले (देवः) देव ने (मह्यम्) मुझे (मर्त्याय) मरणधर्मा के लिए (पाकाय) पवित्र करने के लिए, पक्का करने के लिए (इमा) यह (रातिम्) दान (ददौ) दिया है।

यह सारा जहान् भगवान् ने जीवों को दान दे डाला है। किसी उपकार के बदले में नहीं, क्योंकि वह स्वधवान् है, अपने कार्यों में—सृष्टि रचना, पालना, संहारण में—किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं करता। अतः भगवान् का दान सर्वथा निष्काम है।

भगवान् विचेता=विशेषज्ञ है। सबकी आवश्यकताओं को जानता है, अतः उन सबका विचार करके उसने यह सृष्टि रची है। मूर्ख, विद्वान्, पुण्यात्मा, पापात्मा, निर्बल बलवान्, धनी दरिद्र, राजा प्रजा आदि सभी का निर्वाह इसी से होता है।

इस सृष्टि बनाने का प्रयोजन है कि इसमें ग्रस्त जीव उठे, उन्नति करे, आगे बढ़े। वह अग्नि है, सबको आगे ले जाता है। उसका उप-देश भी आगे बढ़ने का है—

उच्छ्रयस्व महते सौभागाय। (ऋ०) परम सौभाग्य के लिए उन्नति कर।

मैं मर्त्य हूँ, मरणधर्मा हूँ। जाने किस समय मर जाऊं। वह अमृत है, अविनाशी है। काल का भी काल है। उस अमृत के पास अमृत है. जाने, मुझे भी अमृत होने के लिए इस दान में अमृत ही दिया हो। तुम क्यों उनकी निन्दा करते हो ? मत करो निन्दा।

वह वैश्वानर है। सब नरों का नर है, यह गृत्स है। उपदेशक है, इस दान के साथ इसका ज्ञान भी देता है।

मैं कच्चा हूँ, अतएव पवित्र हूँ; मुझे पक्का करने के लिए, पाक पवित्र के लिए उसने मुझे यह दान दिया है। मैं उसकी निन्दा करूँ? अपने गृत्स की, गुरु की निन्दा मैं नहीं सुनता।

कर्णौ तदापिधातव्यौ गुरुनिन्दा भवेद्यदा

तब कान बन्द कर लेन चाहिए, जब गुरु निन्दा होने लगे।

तुम भगवान की, सर्वहितकारी गुरु, सर्वज्ञ गुरु की निन्दा मत करो। अन्यथा मैं तुम्हारी बात नहीं सुनूँगा।

मैं तो कहता हूँ कि भगवान् "वस्यां इन्द्रासि मे पितुरुत भ्रातुरभुञ्जत"

मेरे पिता की अपेक्षा भी मेरे लिए अधिक पूजनीय हैं, मेरे भाई से अधिक सत्करणीय है।

माता पिता भ्राता की अपेक्षा अधिक पूजनीय की निन्दा सुनूँ! असम्भव।

वह बड़ा दाता है और बहुत देना चाहता है—

भूरिदा भूरि देहि नो मा दभ्रं भूर्या भर। भूरि घेदिन्द्र दित्ससि॥

ऋ० ४।३२।२०

भूरिदा ह्यसि श्रुतः ऋ० ४।३२।२१

हे इन्द्र! तू बहुत देना चाहता है क्योंकि तू महादानी = बहुत देने वाला प्रसिद्ध है।

हे बड़े दानी! हमें बहुत दे, थोड़ा मत दे, बहुत ला। भगवान के दान हैं भी भले—भद्रा इन्द्रस्य रातयः ऋ० भगवान् के भले दान हैं। भले की निन्दा कौन करे?

वेद कहता है—

स न इन्द्रः शिवः सखा

ऋ० ८।८२।४

पदार्थ—(सः) वह (नः) हमारा (इंद्रः) इन्द्र (शिवः) कल्याणकारी (सखा) मित्र है।

अन्वय—वह इन्द्र ही हमारा कल्याणकारी मित्र है।

Indra alone is our gracious friend.

२२ मन्त्रानुसार आचरण

ओ३म् । नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि मन्त्रश्रुत्यं चरामसि । पक्षेभिरपि कक्षेभिः सं रभामहे ।। ऋ० १० । १३४ । ७

हे (देवाः) दिव्यगुणसंपन्न महात्माओ ! (नकि.) न तो हम (मिनीमसि) हिंसा करते हैं, घातपात करते हैं और (न किः) न ही (आ+योपयामसि) फूट डालते हैं, वरन् (मन्त्रश्रुत्यम्) मन्त्र के श्रवणानुसार (चरामसि) आचरण करते हैं, चलते हैं (कक्षेभिः) तिनकों के समान तुच्छ (पक्षेभिः) साथियों के साथ भी (सम्) एक होकर, एकमत होकर, मिलकर (रभामहे) वेग पूर्वक कार्य्य करते हैं ।

वेद हिंसा, घातपात का अत्यन्त विरोधी है । साधारण जीवन में हिंसा वेद को अभिमत नहीं है । वास्तव में हिंसा प्रायः संपूर्ण दुर्गुणों का निदान है । इस वास्ते ऋषियों ने यमों में अहिंसा को प्रथम स्थान दिया है । योगियों का सिद्धान्त है कि सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह अहिंसा को ही उज्जवल और परिष्कृत करने के लिए है ।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है । इसे अपनी जीवन-यात्रा चलाने के लिए समाज बना कर रहना होता है । समाज-निर्माण का प्रयोजन मनुष्य का सर्वविध विकास है । उसके लिए कुछ नियम विधान बनाने पड़ते हैं ताकि समाज का संचालन भली भांति होता रहे । 'विचित्ररूपाः खलु चित्तवृत्तयः' [मनुष्य के मन के स्वभाव अद्भुत होते हैं] के अनुसार कई कुटिल-प्रकृति मनुष्य अपनी कुटिलता के कारण समाज में गड़बड़ उत्पन्न कर देते हैं, उससे समाज में फूट पड़ जाती है । इस भेद के कारण समाज की शक्ति क्षीण हो जाती है । वैदिक लोग कहते हैं—

नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि= न हम घातपात करते हैं और न ही फूट डालते हैं ।

ठीक है, निषिद्ध कर्म्मों से बचना निस्सन्देह उत्तम है । किन्तु

मनुष्य का हित तो विहित कर्म्मों में है, अतः कहा—

मन्त्रश्रुत्यं चरामसि=मन्त्र के श्रवणानुसार हम चलते हैं।

अर्थात् जैसा मन्त्र में-वेद में-विहित है, मनुष्यमात्र को वैसा आचरण बनाना चाहिए भगवान् ने मानव के कल्याण के लिए ही वेदवाणी का विधान किया है। वेद में मन्त्र को [वेद को] गुरु कहा गया है—

मन्त्रो गुरुः पुनरस्तु (ऋ० १ । १४७ । ४)=मन्त्र ही फिर गुरु होवे।

अर्थात् जहाँ कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का बोध न हो, वहाँ मन्त्र की शरण लेनी चाहिए।

मन्त्र का एक अर्थ विचार भी होता है। अर्थात् बिना विचारे कुछ नहीं करना चाहिए।

वेद की शिक्षा का एक छोटा सा नमूना इसी मन्त्र में दे दिया है—

पक्षेभिरपि कक्षेभिः सं रभामहे

तिनकों के समान कुछ साथियों के साथ एक होकर हम वेगपूर्वक कार्य्य करते हैं।

अर्थात् किसी को भी घृणा या तुच्छता की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। तुच्छ से तुच्छ पदार्थ भी अपना उपयोग रखता है। समझदार मनुष्य उससे भी अपनी कार्य्यसिद्धि कर लेते हैं।

संकेत से यह मन्त्र उच्चनीच भाव को समाज के लिए घातक मान उसके त्यागने की प्रेरणा कर रहा है।

वेद कहता है—

ओ३म् क्रतो स्मर।

यजु० ४०।१५

अन्वय—हे क्रतो ! कर्म करने वाले जीव तू उस रक्षक का स्मरण कर।

O soul, remember God, who is thy protector.

२३ मुक्ति के अधिकारी

ओ३म्। नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः।
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये

ऋ० १०।६३।४

जो (ज्योतीरथाः) ज्ञानरूपी ज्योतिर्मय रथ पर आरूढ़, (अहिमायाः) अहीनशक्ति, कर्म्मकुशल विद्वान् महाबुद्धिमान्, अतएव (अनागसः) निर्दोष, पापरहित मनुष्य (स्वस्तये=सु-अस्तये) जगत् की उत्तम स्थिति के लिए, संसार के कल्याण के लिए (दिवः) प्रकाशमय प्रभु के (वर्ष्माणं) सुखवर्षक धाम में (वसते) रहते हैं, अथवा अपने आप को प्रभु की कृपा से आच्छादित कर लेते हैं, वे (नृचक्षसः) जगद्‌गुरु मनुष्यमात्र के शिक्षक (अनिमिषन्तः) निर्निमेष होते हुए, आलस्य प्रमाद आदि से रहित होकर, धारणाध्यान समाधि का अनुष्ठान करने वाले, परम उत्साही (अर्हणाः) योग्य (देवासः) सर्वस्वत्यागी, निष्काम विद्वान् (बृहत्) महान् (अमृतत्वम्) मोक्ष को (आनशुः) प्राप्त करते हैं।

जन्म-मरण के क्लेश से छूटकर ब्रह्मानन्द की प्राप्ति का नाम मुक्ति है। वेद में अनेक स्थानों पर इसे अमृत नाम दिया गया है। शास्त्रों में इसे परम पुरुषार्थ, अत्यन्त पुरुषार्थ, कैवल्य, अपवर्ग, मोक्ष आदि नाम दिये गये हैं। संसार में एक भी प्राणी ऐसा नहीं, जो यह चाहता हो कि मैं दुःख से न छूटूँ। किन्तु कोई विरला ही दुःख से छूट पाता है। इस मन्त्र में दुःख से छूट कर ब्रह्मानन्द पाने वालों के लक्षण बताये गये हैं।

१. नृचक्षसः=जगद्‌गुरु, तथा मनुष्य को देखने वाले, जिन्हें मनुष्यत्व की परख हो। पशुपक्षियों से मनुष्य का भेद जान कर, भोगभाव से ऊपर उठ कर, आत्म-परमात्म-चिन्तन में स्वयं रत होकर दूसरों को वैसी प्रेरणा करने वाले।

२. अनिमिषन्त:=आलस्य-प्रमादादि-रहित। मुक्तिसाधनों के अनुष्ठान में जो क्षण भर भी प्रमाद न करें, वरन् 'गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्म्ममाचरेत्—धर्म्माचरण करते ऐसा सोचें कि मानों मृत्यु ने केश पकड़ रखे हैं, जाने कब झटका दे दे।

३. अर्हणा:=स्वयं पूज्य, तथा भगवत्पूजा परायण।

४. देवास:=निष्काम तत्वज्ञानी।

५. ज्योतीरथा:=ज्ञानरथारूढ़। आत्मा, परमात्मा तथा संसार के भेद का रहस्य जिन्होंने भली भाँति जान लिया है।

६. अहिमाया:=अहीनशक्ति, ज्ञानानुसार कार्य्य करने में कुशल।

७. अनागस:=निर्दोष, पापरहित। यथार्थ ज्ञान के कारण जिन्होंने विकर्म्मों को सदा त्याग कर दिया है।

८. दिवो वर्ष्माण वसते स्वस्तये=जो ज्ञान बल को धारण करते हैं, प्रभु के सुखवर्षक तेज को धारण करते हैं। उस ज्ञान व तेज का प्रयोजन संसार दशा सुधार होता है।

सार यह है कि यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके, उस ज्ञान के अनुसार सत्कर्म्म करने वाले निर्दोष लोकोपकारक महात्मा मोक्ष पाते हैं।

वेद कहता है—

आकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु

ऋ० ५।३।४

पदार्थ—(आकूतिः) संकल्प (सत्या) सत्य (मनसः) मन का (मे) मेरा (अस्तु) हो।

अन्वय—मेरे मन का संकल्प सच्चा हो।

Let my thoughts be true.

२४ पृथिवी-धारक

ओ३म् । सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति । सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुलोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥

अ० १२ । १ । १

(सत्यम्) सत्य (बृहत्) महत्त्वाकांक्षा, बड़ाई (ऋतम्) नियम-पालन, न्याययुक्त व्यवहार (उग्रम्) उग्रता, तेजस्विता (दीक्षा) दीक्षा (तपः) तपस्या, तितिक्षा (ब्रह्म) ब्रह्मचर्य्य, आत्मज्ञान (भूतस्य) अतीत को (भव्यस्य) भावी की (पत्नी) पालन करने वाली, रक्षिका (पृथिवी) पृथिवी (नः) हमारे लिए (उरु) विस्तृत (लोकम्) स्थान (कृणोतु) करे।

मातृभूमि की स्वतन्त्रता को स्थिर रखन के लिए जो गुण अत्यन्त आवश्यक हैं, जिनके बिना राष्ट्र का स्वातन्त्र्य संकट में पड़ सकता है, उनका इस मन्त्र में उल्लेख है—

१. सत्य=अटल सच्चाई। जो लोग स्वदेश के प्रति सच्ची भावना से व्यवहार नहीं करते, वे स्वदेश से धोखा करके इसे अधोगति के गहरे गर्त्त (गढ़े) में गिराते हैं। अतः स्वराज्य रक्षकों को स्वदेश के प्रति निष्कपट सत्य का व्यवहार करना चाहिए। वेद में दूसरे स्थान पर कहा है—

सत्येनोत्तभिता भूमि (अ० १४ । १ । १)=भूमि सत्य के सहारे रुकी है।

वेद के इस निर्देश पर ध्यान दो और फिर वेद की महिमा को हृदयंगम करो। वेद राष्ट्र-व्यवहार में सत्य को सबसे प्रथम स्थान दे रहा है। वेद की दृष्टि में सत्य सबसे ऊँचा है। हमारे धर्म्मशास्त्रों में भी सत्य सबसे बड़ा धर्म्म माना गया है। यथा मनु जी कहते हैं—

नहि सत्यात्परो धर्म्मः=सत्य से बढ़ कर कोई धर्म्म नहीं है।

२. बृहत्=महत्त्वाकांक्षा=बड़प्पन। जो लोग देश की स्वतन्त्रता

के लिए यत्न करते हैं, यदि उन के भाव क्षुद्र हों, ग्राकाँक्षायें तुच्छ हों, ग्राशायें नीच हों, तो स्वतन्त्रता के लिए वास्तविक प्रेम हो ही नहीं सकता। वे स्वतन्त्रता के लिए किसी प्रकार का त्याग नहीं कर सकते। अतः स्वदेश का स्वातन्त्र्य चाहने वालों के भाव उच्च हों, उनमें महान् बनने की स्वाभाविक उमंग हो।

३. ऋत=न्याययुक्त व्यवहार या नियम पालन। स्वतन्त्रता के लिए उद्विग्न हुई जनता जहाँ विदेशी शासकों के रचे शोषक विधानों के विरुद्ध उठ खड़ी होती है, वहाँ उतावली होकर अपने बनाये नियमों को भी पैरों तले रौंद डालती है। परिणाम यह होता है कि अराजकता फैल जाती है। उस अराजकता के समय उन्मत्त हुई प्रजा न्याय, अन्याय, उचित, अनुचित, धर्म्म, अधर्म्म किसी बात का विचार नहीं करती। उस समय उसके हाथों अकथनीय अत्याचार होने लगते हैं। उसका फल अत्यन्त अनिष्ट होता है। अत्यन्त परिश्रम तथा तितिक्षा से प्राप्त स्वतन्त्रता उस समय डाँवाडोल दशा में दीखने लगती है। अतः उस परिस्थिति से बचने के लिए ऋत का आचरण नितान्त आवश्यक है। 'वेद' तो है ही 'ऋत' का प्रचारक। वेद कहता है—

ऋतस्य देवा अनुव्रता गुः। ।ऋ० १।६५।२
देवी शक्तियाँ ऋत के व्रत के अनुकूल चलती हैं।

ऋताय पृथ्वी बहुले गभीरे॥ ऋ० ४।२३।१०

ये विशाल द्यौ और पृथिवी ऋत के लिए हैं। अर्थात् ऋत के नियमों में चल रही हैं।

४. उग्र=उग्रता=तेजस्विता। स्वतन्त्रता संघर्ष में कभी-कभी ऐसे कार्य्य भी करने पड़ जाते हैं, जो साधारण स्थिति में कदाचित् किसी को भी पसन्द न हों। ऐसे समय में भीरु और कायर जन धैर्य्य छोड़ बैठते हैं। उन्हें व्यामोह घेर लेता है, फलतः जीत हार में परिणत होने लगती है। प्रत्येक बात का अपना अवसर होता है, वह अवसर तेजस्विता का है, अतः उस समय तेजस्विता=उग्रता को अपनाना

चाहिए।

५. दीक्षा=दृढ़संकल्प। एक मनुष्य सत्यप्रेमी भी है, महत्त्वाभिलाषी भी है, ऋत का अनुसरण करने को भी तत्पर है। तेजस्वी भी है किन्तु उसके संकल्प में कल्प नहीं, बल नहीं। किसी काम के लिए दृढ़ संकल्प नहीं कर सकता। वह इन सब गुणों से सम्पन्न होता हुआ भी अपने लक्ष्य में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। अतः ऊपर कहे गुणों के साथ अपने कार्य्य में सिद्धि प्राप्त करने का संकल्प भी दृढ़ होना आवश्यक है। दीक्षा का वेद में बहुत महत्त्व माना गया है—

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे ॥

अ० १८। ४१। १

आनन्द प्राप्ति के रहस्य को जानने वाले ज्ञानी जन कल्याण की कामना से पहले तप और दीक्षा का सेवन करते हैं।

६. तप=तपस्या=तितिक्षा। कार्य्य सिद्धि होने से पूर्व अनेक बार विघ्न आते हैं। कई बार स्पष्ट असफलता सामने मुख खोले खड़ी दीखती है। कहावत भी है—'**श्रेयांसि बहुविघ्नानि**' भले कार्य्यों में बहुत विघ्न होते हैं। उन विघ्नों को, तथा भूख प्यास, सरदी गरमी, सुख दुःख आदि की परवाह न करके लक्ष्य की सिद्धि केलिए सब कुछ करना होता है। इसे 'तप' कहते हैं।

७. ब्रह्म=ब्रह्मचर्य तथा आत्मज्ञान। स्वतन्त्रता प्राप्ति के अभिलाषी को इसका विशेष रूप से पालन करना चाहिए। स्वतन्त्रतापहारक लोगों के पास स्वतन्त्रताभिलाषियों को पतित करने के अनेक साधन होते हैं। मनुष्य में अनेक दुर्बलता बड़ी भयंकर है, बड़े-बड़े वीर इस प्रलोभन में फंस जाते हैं। पुरुष को गिराने के लिए स्त्री और स्त्री को गिराने के लिए पुरुष अमोघ हथियार माने जाते हैं। तभी तो यम ने नचिकेता को परीक्षा लेने की भावना से कहा था—

इमाः रामाः सरथाः सतूर्याः ॥ कठो०=

बाजों गाजों तथा रथों के साथ ये स्त्रियाँ ले लो।

वेद कहता है, राष्ट्ररक्षक को इस विषय में अत्यन्त सावधान रहना चाहिए। ब्रह्मचर्य्य रूपी मणि की रक्षा सर्वथा करनी चाहिए। अन्यथा प्राप्त स्वतन्त्रता का भी विलास से नाश हो जायेगा। ब्रह्मचर्य्य-पालन राजा के लिए भी कर्त्तव्य है। यथा—

ब्रह्मचर्य्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति ॥ अ० ११। ५। । १७

ब्रह्मचर्य्य तप से राजा राष्ट्र की विशेष रक्षा करता है।

राष्ट्र संवर्धक लोग आस्तिक हों। नास्तिक लम्पट, प्रथम तो सफलता ही नहीं प्राप्त कर सकते, यदि सफल हो भी जायें, तो उनकी वह सफलता चिरस्थायिनी नहीं हो सकती। आस्तिकता तथा सदाचार से आत्मज्ञान=अपनी शक्ति का भान होता है। कार्य्य सिद्धि के लिए अपेक्षित शक्ति तथा साधनों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। जो अपने बल सामर्थ्य का प्रमाण जाने बिना किसी गुरुतर कार्य्य में प्रवृत्त होता है, वह बहुधा असफल रहता है, उसके मनोरथ मनोरथ ही रह जाते हैं। अतः ब्रह्म अपनी शक्ति का ज्ञान भी राष्ट्र रक्षा के लिए अत्यन्त प्रयोजनीय है।

८. यज्ञ=दान, संगतिकरण तथा देव पूजा। देश हितैषी, कला-कोविद महापुरुषों के साथ सदा मेल जोल रखने से देश हित के नये नये भाव तथा उत्तमोत्तम उत्तेजनाएं मिलती रहती हैं। जिस देश में देवपूजा=विद्वानों का सत्कार नहीं होता, वहाँ सदा दुःख दारिद्रय बने रहते हैं, क्योंकि यथेष्ट आदर न होने के कारण वे विद्वान या तो दूसरे देशों में चले जाते हैं। या विद्या-व्यवसाय छोड़कर किसी अन्य व्यापार व्यवहार में लग जाते हैं। यज्ञ शब्द बहुत व्यापक अर्थों का सूचक है। स्वार्थ त्याग, पीड़ितों, दुःखियों के दुःख दूर करना, योग्य पदार्थ का योग्य स्थान में उपयोग करना, परहित-चिन्तन, राष्ट्रहित के लिए अखिल सामग्री का सञ्चयन आदि लोकोपकारक कार्य यज्ञ शब्द में सन्निविष्ट हैं।

यजुर्वेद के १८वें अध्याय के पहले २८ मन्त्रों में मनुष्य जीवनोपयोगी सभी पदार्थों की गणना की है, और प्रत्येक मन्त्र के अन्त में कहा है—

यज्ञेन कल्पन्ताम्=ये सब यज्ञ से समर्थ हों।

अर्थात् यज्ञ इनका धारक है।

संसार का इतिहास इस बात का साक्ष्य दे रहा है कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने तथा उसे बनाये रखने के लिए इन गुणों की सदा आवश्यकता रही है।

उत्तरार्ध में एक अनुपम सत्य का निरूपण है। मातृ-भूमि हमारे अतीत गौरव का एक विशाल भाण्डागार है, हमारी भविष्यत् की आशायें भी इसी में निहित हैं। अतीत गौरव की गाथा किस प्रकार मातृभूमि में निहित है, यह वेद ही के शब्दों में सुनिये—

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्त्तयन्॥

(ऋ० १२।१।५)

जिसमें हमारे पुरातन पुरखाओं ने विविध पराक्रम किये और जिसमें देवों ने=धर्मात्माओं ने पापियों को हराया।

अपने पूर्वजनों के इतिहास की गौरव गाथा की स्मृति मनुष्य में अभूतपूर्व उत्साह उत्पन्न कर देती है।

जिस राष्ट्र में उपर्युक्त गुण हैं, उस राष्ट्र के वासियों को स्वदेश तथा परदेश मे स्थानादि की कहीं भी तंगी नहीं होती। पराधीन देश के वासियों को स्वदेश में ही स्थान नहीं मिलता, परदेश में तो मिलना ही क्या है।

वेद कहता है—

सं श्रुतेन गमेमहि

अ० १।१।४

पदार्थ— (श्रुतेन) वेद ज्ञान से (संगमेमहि) मिलें।

अन्वय—वेद ज्ञान से हम मिलें।

May we be uninted with Scriptural knowledge.

२५ तेरी शरण सबसे अच्छी है

ओ३म् । अयमग्ने जरिता त्वे अभूदपि सहसः सूनो नह्यन्यदस्त्याप्यम् । भद्रं हि शर्म त्रिवरूथमस्ति त आरे हिंसानामप दिद्युमा कृधि ।।

(ऋ० १०।१४२।१)

हे (अग्ने) सबको प्रकाश देने वाले ! (अयं) यह (जरिता) स्तोता (त्वे+अपि) तेरे ही सहारे (अभूत्) रहता है। हे (सहसः+सूना) बलियों को झुका देने वाले ! क्योंकि (अन्यत्) तेरे भिन्न अन्य (माप्यम् प्राप्तव्य, या सम्बन्धी (न) नहीं (अस्ति) है। (हि) सचमुच (ते) तेरी शरण (भद्रम्) भली और (त्रिवरूथम्) तीनों में श्रेष्ठ है, अतः (हिंसानाम्) हिंसकों का (दिद्युम्) वज्र हमसे (आरे+अप+आ+कृधि) बहुत दूर करदे ।

आश्रयार्थी समस्त संसार में घूम आया है। उसे अपेक्षित आश्रय नहीं मिला। जहाँ कहीं आश्रय मिला भी, थोड़े समय के पश्चात् उसमें उसे दोष दिखाई दिया। निर्दोष आश्रय की अभिलाषा से वह उसन छोड़ दिया। इस प्रकार सारा संसार उसने खोज डाला है। उसे बन्धु बान्धव, मित्र कलत्र, पुत्र, पिता सभी स्वार्थ के पुतले दीख पड़े . अतः आर्त्त स्वर में कहता है—

अयमग्ने जरिता त्वे अभूदपि सहसः सूनो नह्यन्यदस्त्याप्यम् =

प्रभो ! यह भक्त तेरे ही सहारे हो गया है [रहता है] बलवानों को झुकाने वाले ! तेरे बिना और कुछ प्राप्तव्य नहीं और कोई संबन्धी नहीं।

सच है। भगवान ही सच्चा सखा बन्धु, माता पिता है—

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता (य ३२।१०)=

वह प्रभु ही हमारा बन्धु, जनिता [माता-पिता] है और वह विधाता [जगन्निर्माता] है।

वह प्रबलों में प्रबल है, उससे अधिक प्रबल कोई नहीं है। उसकी

शक्ति के सामने सब मन्द पड़ जाते हैं। वह सर्वशक्तिमान् सर्वगुण-निधान भगवान मिल जाये, तो और चाहिये ही क्या ? आश्रय खोजते खोजते मिल गया सर्वाश्रय, सर्वाधार।

सारे सहारे देखे थे, उनके गुण अवगुण का ज्ञान है। जब ये मिला तो भक्त के मुख से निकला—भद्रं हि शर्म त्रिवरूथमस्ति ते=तेरी शरण तो सचमुच तीनों में श्रेष्ठ है।

एक शरण प्रकृति की है। उससे तो जीव उतना पाता नहीं, जितना गंवाता है। चेतन जीव जब जड़ प्रकृति का शरणार्थी होना चाहता है तो समझ लो कि यह पहले बहुत कुछ गंवा चुका है। विवेक-शील जीव को इतना विवेक नहीं रहा कि मैं स्वामी हूँ और यह स्व हैं। वह भूल गया कि जड़ चेतन की अपेक्षा हीन होता है, जड़ तो स्वयं कोई क्रिया भी नहीं कर सकता। उसमें तो क्रिया, चेष्टा गति का आधान चेतन ही करता है। अतः जड़ की शरण तो मरण है। दूसरी शरण जीवों की है। जीव उसके समान चेतन अवश्य हैं।

वह जड़ प्रकाश रहित प्रकृति की अपेक्षा अवश्य उत्कृष्ट है। सन्ध्या मन्त्र में ही जीव को प्रकृति से श्रेष्ठ कहा है—

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्=

अन्धकारमयी प्रकृति से ऊपर उठ कर उससे श्रेष्ठ आत्मप्रकाश के दर्शन करते हैं।

किन्तु जीव के ज्ञानादि गुणों में तारतम्य है। एक से एक उत्कृष्ट दीखता हैं। जीव एक की शरण लेता है, उसकी अपेक्षा दूसरे का उत्कृष्ट ज्ञान होने पर उसे छोड़ देता है। अन्त में वहाँ से भी अपना मनोरथ मिलता न देख शरणान्तर की तलाश करता है तीसरी शरण जगद्विधाता परमात्मा प्रकृति तथा जीव के अधिष्ठाता की है। उसके प्राप्त होते ही सब उपद्रव शान्त हो जाते हैं, वासना शान्त हो जाती है और वह आवेश में आकर कहता है—

भद्रं हि शर्म त्रिवरूथमस्ति ते=तेरी शरण तीनों में श्रेष्ठ है।

अल्पज्ञता के कारण जीव बहुधा प्राप्त हुए उत्तम पदार्थ को सम्भाल कर नहीं रख पाता है। जीव अपनी इस दुर्बलता से डरता है। उसे चिन्ता है, कि काम-क्रोधादि घातक शत्रु उस पर कहीं वार न कर दे, अपना वज्र प्रहार न कर दें। और उसकी चोट खाकर वह त्रिवरूथ शरण को खो बैठे। वह उस आप्त्य=बन्धु से प्रार्थना करता है—

आरे हिंसानामप विद्युमा कृधि=हिंसकों के वज्र को मुझसे बहुत दूर कर।

काम क्रोधादि के वज्र से आत्मा बचा रहे, तो इसके कल्याण की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है।

तात्पर्य्य यह है कि शरण प्राप्त करके मनुष्य प्रमादी न बने, सदा सावधान रहे. इसके लिए वह निरभिमान होकर भगवान् से ही प्रार्थना करता है, क्योंकि उसे अपनी दुर्बलता का भान हो चुका है।

———

वेद कहता है—

सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन्

ऋ० ९।७३।१

पदार्थ—(सत्यस्य) सत्य की (नावः) नौकायें (सुकृतम्) सत्कर्मी को (अपीपरन) पार करती हैं।

अन्वय—सत्य की नौकायें सत्कर्मी को पार कर देती हैं।

The ships of truth bear the righteous man across.

२६ भगवान् के प्यारे

ओ३म् । न तं जिनन्ति बहवो न दभ्रा उर्वस्मा अदितिः शर्म यंसत् ।
प्रियः सुकृत्प्रिय इन्द्रे मनायुः प्रियः सुप्रावीः प्रियो अस्य सोमी ॥

(ऋ० ४।२५।५)

(न) न (तम्) उसको (बहवः) बहुत लोग (जिनन्ति) हानि पहुँचा सकते और (न) न (दभ्राः) थोड़े। (अदितिः) अदिति माता (अस्मै) इसको (उरु) बड़ा (शर्म) ठिकाना (यंसत्) देती है। (सुकृत्) सुकर्म्म करने वाला (इन्द्रे) भगवान के प्रति (प्रियः) प्यारा होता है (मनायुः) मननशील, विचारवान् (प्रियः)होता है (सुप्रावीः)उत्तम रीति से रक्षा करने वाला (प्रियः) प्यारा होता है और (सोमी) सोम वाला (अस्य) इसका (प्रियः) प्यारा होता है

इस मन्त्र में भगवान के प्यारों के कुछ चिह्न बताये हैं जो बहुत ही मनन करने योग्य हैं। वे चिह्न ये हैं—

१. सुकृत्=उत्तम कर्म करने वाला। भगवान् स्वयं स्वपाः=सुकर्म्मा है। समानशीलव्यसनेषु सख्यम्=जिन पर एक सी विपत्ति हो अथवा जिनका शील एक सा हो, उसमें परस्पर सखित्व=मैत्री हो सकती है। जब भगवान् स्वयं स्वपाः=सुकर्म्मा है, तो उसकी अकर्म्मा=निठल्ले या दुष्कर्म्मा से प्रीति कैसे हो सकती है? दुष्कृतों की भगवान् से मैत्री हो नहीं सकती। भगवान् की मैत्री के लिए ऋतगामी होना चाहिए और

ऋतस्य पन्थांम् न तरन्ति दुष्कृतः (ऋ० १०।७३।६)=दुष्कर्मकारी लोग ऋत के मार्ग पर नहीं चलते।

ऋत पर चलना सुकर्म्म है अतः सुकर्म्मा भगवन् का प्यारा होता है।

मनुष्य भगवान् से प्यार करता है ताकि वह उसे प्यार करे। वेद रीति बता रहा है जिससे वह भगवान का प्यारा बन जाए, और

भगवान् उससे प्यार करने लग जाए।

२. मनायुः–भगवान् का निरन्तर मनन करता हो। मन्द मूढ़मति भगवान् का प्यारा नहीं हो सकता। उसे प्रीति की रीति की प्रतीति ही नहीं आती। वह क्या जाने प्रेम- पन्थ ?

मनन श्रवण के पश्चात् ही हो सकता है मनन श्रवण के बिना हो ही नहीं सकता। श्रवण के बिना किसका मनन करेगा ? भगवान् की कीर्ति सुनकर मनन करने से आचरण की, धारणा की प्रेरणा होती है। तात्पर्य यह कि मनायु होने के लिए शुश्रूषु होना अनिवार्य है। भगवान् के गुणगण सदा सुनना, सुनकर मनन करना अर्थात् उनका अपने जीवन में कैसा उपयोग करना होता है, इसके पश्चात् धारण=निदिध्यासन होता है।

अर्थात् भगवान् का प्रीतिपात्र बनने के लिए मनुष्य को श्रवण मनन निदिध्यासन का अनुष्ठान करना चाहिए।

३. सुप्रावी—श्रवण मनन से ज्ञात हुआ कि भगवान् सबकी रक्षा करता हैं और प्रेमपूर्वक रक्षा करता है। भगवान् का प्यार चाहने वाले को भगवान की प्रजा का प्रेमी, रक्षक बनना होगा। भगवत्प्रजा को अपनी उदरदरी की पूर्ति के लिए विदीर्ण करने वाला भक्षक भगवान का प्रेम प्राप्त ही नहीं कर सकता। अतः मनुष्य को यत्न करके प्राणिरक्षा का प्रेमपूर्ण कार्य करते रहना चाहिए। तात्पर्य यह निकला कि प्रभुभक्त को अहिंसक बनकर मनसा, वचसा, वपुषा सबसे मित्र-वत् व्यवहार करना चाहिए।

४. सोमी=सोमवाला। जिसके पास कोई पदार्थ हो किन्तु वह न उसका उपभोग करे और न उपयोग करे, तो उसके पास उस वस्तु की सत्ता का कोई प्रमाण नहीं। यदि कोई सोम रखता हुआ भी दूसरों को सोम नहीं देता, तो उसके सोमी होने का कोई प्रमाण नहीं। स्वयं शान्ति हो, दूसरों को शान्त कर सके, वही सोमी। सोमी बनने के लिए सुकृत, मनायु तथा सुप्रावी होना अत्यन्त अपेक्षित है। सबसे

प्रीति किए=बिना=सुप्रावी हुए बिना शान्ति मिल ही नहीं सकती। वैर विरोध करने से मन अशान्त, आत्मा उद्भ्रान्त रहता है। सबसे प्रीति की भावना मनन के बिना असम्भव है। संसार के व्यवहार पर जब मनुष्य विचार करता है तो उसे अनुभव होता है कि वैर विरोध का फल वैर विरोध है। अतः वह आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्=अपने को बुरा लगने वाले व्यवहार दूसरों के साथ नहीं करता। सबको आत्मवत् समझने लगता है यही मनन की भावना सुप्रावी बना देती है और मनुष्य करने के पूर्व, अतः आत्मवत् सबको समझने की व्यवस्था से उत्तम कर्म करने लगता है। जो इन साधनों से सम्पन्न हो लेता है, वह अवश्य सोमी हो जाता है।

भगवान् की प्रीतिप्राप्ति के लिए न्यून से न्यूनयह चार गुण अवश्य होने चाहियें।

जिसमें यह चार गुण हों उसको कोई नहीं हानि पहुँचा सकता। चाहे कितनी संख्या मे हानिकारक लोग क्यों न हों ? सबसे बड़ी बात यह है कि

उर्वस्मा अदितिः शर्म यंसत्

अदिति=माता जगन्माता ऐसे प्रेमी को विशाल ठिकाना देती है।

वेद कहता है—

मा जीवेभ्यः प्रमदः

अ० ८।१।७

पदार्थ—(मा) मत (**जीवेभ्यः**) जीवों के लिए (**प्रमदः**) प्रमाद कर।

अन्वय—जीवों के लिए प्रमाद मत कर।

Don't neglect living beings.

२७ विद्वान् भगवान् का ध्यान करते हैं

ओ३म् यस्तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान् बृहस्पतिस्त्रिषधस्थो रवेण ।
त प्रत्नास ऋषयो दीध्याना; पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम् ॥

ऋ० ४ । ५० । १

(यः) जिस (त्रिषधस्थः) त्रिलोकी में रहने वाले (बृहस्पतिः) महान् लोक लोकान्तरों के पालक भगवान् ने (सहसा) शक्ति तथा (रवेण) आदेश से (ज्मः) संसार के (अन्तान्) सिरों को (वि) विशेष रूप से (तस्तम्भ) थाम रखा है (प्रत्नासः) पुराने सनातन व्यवहार कुशल (ऋषयः) यथार्थ दर्शी (विप्राः) मेधावी ज्ञानी (दीध्यानः) ध्यान करते हुए (तम्) उस (मन्द्रजिह्वम्) मस्ती के उपदेशक को (पुरः) आगे (दधिरे) धरते हैं, अर्थात् ध्यान करते हैं ।

मनुष्य का आदर्श बहुत ऊँचा होना चाहिए । छोटे आदर्श वाले मनुष्य छोटे ही होते हैं । वेद में उपदेश आता है—

उत्क्रामातः पुरुष

हे मनुष्य ! इस अवस्था से ऊपर उठ ।

अर्थात् वर्त्तमान अवस्था पर ही सन्तोष नहीं करके रहना चाहिये वरन् और अधिक उन्नति के लिए चेष्टा करनी चाहिए । अल्प में सुख नहीं है । अतः बड़ा बनने का, बड़ाई प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए । सनत्कुमार महात्मा ने नारद को ठीक ही बताया था—

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति

जो सब में बड़ा है, वही सुख है, थोड़े में तो सुख है ही नहीं ।

आओ ! महान् का अनुसन्धान करें । कोई छोटा सा मिट्टी का ढेला हाथ में ले लो, फिर हाथ से छोड़ दो । क्या वह वहाँ रह जायेगा नहीं नीचे जायेगा । क्यों ? आकर्षण शक्ति इसकी व्याख्या नहीं । जड़ पृथिवी आदि में यह सामर्थ्य कहाँ, यह ज्ञान कहां ?

संसार में व्यवस्था यथा नियम सूचित कर रहे हैं कि कोई ऐसा नियामक है जो इस सारे ब्रह्माण्ड का संचालन कर रहा है, और जिसमें सबको वश में रखने का सामर्थ्य है जिसे इस सबका यथार्थ ज्ञान भी है। अर्थात् वह सर्ववशी सर्वव्यापक तथा सर्वज्ञ है। मन्त्र के पूर्वार्द्ध में उस महान् का बखान है—

यस्तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान् बृहस्पतिस्त्रिधस्थो रवेण

जिस त्रिषधस्थ बृहस्पति ने शक्ति तथा आदेश से संसार के सिरों को विशेष रूप से थाम रखा है।

बृहस्पति=सबसे बड़े रक्षक ने लोकों के सिरों को थाम रखा है, अर्थात् लोकों के अन्तों तक उसकी पहुँच है। कैसे पहुँच है ? वह **त्रिषधस्थः** तीनों लोकों में एक साथ रहता है। अर्थात् वह सदा सर्व-व्यापक है, कारण और कार्य्य दोनों में वह एक समान विराजमान है। इससे भगवान् एकदेशी नहीं, वरन् सर्वदेशी है, यह सिद्ध हुआ। वह यह कार्य्य अपने सहज=सामर्थ्य से कर रहा है। वह मन्द्रजिह्व है। मधुर उपदेशक है, उसके उपदेश मस्ती देते हैं। उपदेश ज्ञान के बिना नहीं हो सकता। सर्वत्र रहने वाले का ज्ञान भी सर्वव्यापक होना चाहिए।

सर्वव्यापक, सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् भगवान् से अधिक महान् कौन है ? अतः सुखाभिलाषी ऋषि उसी का ध्यान करते हैं—

त प्रत्नासः ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम्।

इसका एक भाव और भी है। पुरोधान=आगे धरने का एक अर्थ है—नेता बनाना, आदर्श बनाना। आदर्श जिसे बनाओ, वह मन्द्रजिह्व=मधुरवाणी=मीठी ज़बान वाला हो। सचमुच भगवान् के उपदेशों में कहीं भी कटुपन नहीं है। चारों वेद पढ़ जाइये, मिठास ही मिठास वहाँ मिलेगा। आलोचकों का कहना है, वेद के युद्ध सूक्तों में भी एक मिठास है।

क्या प्रत्येक मनुष्य भगवान् का ध्यान कर सकता है ? ध्यान करने वाले में दो गुण होने चाहियें। एक ऋषित्व, दूसरा विप्रत्व। ऋषि का अर्थ है—ऋषिदर्शनात्। जिसको पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो गया है, जिसने प्रकृति के सत्त्व रजस् और तमस् के बन्धन करने के गुण को देख लिया है, वह कैसे इस पाश में फंसेगा ? किन्तु होता यह है कि मनुष्य बार बार भूल जाता है। प्रकृति तथा प्रकृतिजन्य संसार में इतनी मोहकता, इतना आकर्षण है कि प्राकृतिक विषयों के सामने आने पर मनुष्य को सारा ज्ञान भूल जाता है। अतः केवल एक बार जान लेना ही पर्य्याप्त नहीं है वरन् उस ज्ञान को धारण करने का गुण भी होना चाहिये। उस गुण का नाम है विप्रत्व। विप्र कहते हैं मेधावी को, मेधा-बुद्धि वाले को। मेधा का अर्थ है धारणा-वती बुद्धि। इसी कारण वेद में अनेक स्थानों पर मेधा-बुद्धि प्राप्ति के लिए प्रार्थना है--

यां मेधा देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा (य. ३२। १४)

जिस मेधा बुद्धि का सेवन निष्काम विद्वान् तथा सकाम ज्ञानी करते हैं, हे उन्नतिदायक प्रभो ! उस मेधा बुद्धि से युक्त करके मुझे भी मेधावी कीजिये।

मेधा के बिना संसार का कार्य्य भी नहीं चल सकता। सच्चे मेधावी की पहिचान ही यह है कि वह भगवान् का ध्यान करता हो।

वेद कहता है—

केवलाघो भवति केवलादी

ऋ० १०।११७।२

अर्थ—अकेला खाने वाला पापी बनता है।

All sin becomes his who eats with no partaker.

२८ वेद माता

स्तुता मया वरदा वेदमाता
प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजनाम् ।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्ति
द्रविणं ब्रह्म वर्चसम् । मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्म लोकम् ।

अथर्ववेद काण्ड १९-सूक्त ७१-मन्त्र १

अन्वय—मया वरदा वेदमाता स्तुता । द्विजानां पावमानी अस्ति तां विद्वांसः) प्रचोदयन्ताम् । हे विद्वांसः मह्यं आयुः, प्राणं, प्रजां पशुं, कीर्ति, द्रविणं ब्रह्म वर्चसं (एतान् सर्वान् पदार्थान्) दत्वा ब्रह्म लोकं व्रजत ।

अर्थ— (मया) मेरे द्वारा (वरदा) वरों को देने वाली (वेद माता) (स्तुता) स्तुति की गई । अर्थात् मैंने वेदरूपी माता की गोद में बैठ कर ज्ञान के रस का पान कर लिया है (द्विजानां) विद्वान् ब्राह्मणों द्वारा गाई हुई (पावमानी) पावमानी नाम की ऋचायें जीवन को पवित्र करने वाली (प्रचोदयन्तां) हम सब शुभ कर्मों के लिये प्रेरित हुआ करें । हे विद्वानो (मह्यं) मुझको (दत्वा) इन सात वरों को दे कर (ब्रह्म लोकं) मोक्ष को (व्रजत) प्राप्त कीजिये । वह सात वर यह हैं । (आयुः) पूर्ण जीवन, (प्राण) जीवन शक्ति,) (प्रजां) सन्तान, (पशु) गाय, बैल, घोड़ा, आदि पशु (कीर्ति) यश, (द्रविणं) धन धान्य (ब्रह्मवर्चसम्) आध्यात्मिक तेज ।

व्याख्या—इस वेद मन्त्र में चार बातों का वर्णन है:—(१) वेद माता है। 'माता निर्माता भवति ।' माता पुत्र के शारीरिक, मान-

सिक तथा सामाजिक जीवन का निर्माण करती है । इसी प्रकार वेद विद्या द्वारा ही मानव समाज का निर्माण हुआ है। मनुष्य ने भूमण्डल पर जितना साँस्कृतिक विकास किया है वह सब मूल में वेद विद्या के द्वारा ही आरम्भ हुआ था वेद ने मनुष्य को बोलना सिखाया। समस्त मानव-भाषाओं का विकास वैदिक भाषा से है। भाषा-विज्ञान-विशारदों ने सभी भाषाओं के पारस्परिक सादृश्य की खोज की है। संस्कृत का 'पितृ', फारसी का 'पिदर', लैटिन का 'पेटर, पुर्तगाली भाषा का'पादरी' अंग्रेज का 'फादर' यह मिलते-जुलते शब्द हैं। संस्कृत का 'आपः' या आप्यः', दक्षिणी भाषाओं का 'आप्या', या 'अप्पा' उर्दू का 'अब्बा', अरबी का 'अब', या 'अबू' यह भी मिलते जुलते हैं। परन्तु संस्कृत सबसे पुरानी भाषा है। और संस्कृत में ध्वन्यात्मक सादृश्य के साथ-साथ धात्वर्थ भी मिल जाते हैं। जैसे 'पितृ' शब्द में 'पा' रक्षणे धातु का अर्थ विद्यमान है। अंग्रेजो के 'फादर या फारसी के 'पिदर' का अर्थ उन भाषाओं के धातुओं से जान नहीं सकते। इससे पता चलता है कि जब संस्कृत के शब्दों ने अपने आदि मूल देश को छोड़ा और विकृत होकर दूसरी भाषाओं के रूप में विलीन हो गये, तो वह शब्द अपनी ध्वनि को तो साथ ले गये, परन्तु धात्वर्थों को पीछे छोड़ गये। संस्कृत में धात्वर्थ का मिल जाना और दूसरी भाषाओं में न मिल सकना इस बात का प्रमाण है कि वेदों की भाषा से ही दूसरी भाषायें निकली हैं। यदि आप को दो देशों में दो फूल की सुन्दर मालायें मिलें, परन्तु एक देश में फूलों के साथ उनके वृक्षों का मूल भी मिल जाये और दूसरे में केवल फूल हों और मूल न मिले तो मानना पड़ेगा कि उन फूलों का जन्म-क्षेत्र वही था जहाँ मूल भी मिलती है। संस्कृत का 'कर्म' और पाली का 'कम्म' दोनों मिलते-जुलते हैं, इनमें ध्वनि-सादृश्य हैं। प्रश्न यह है कि 'कम्म' पहले था या 'कर्म्म' कर्म्म का अपभ्रंश कम्म है या कम्म का अपभ्रंश कर्म्म ? ऊपर की कसोटी लगाइये। इन

दोनों का भाव 'कृ' (करना) धातु से निकला है। परन्तु कम्म में 'कृ' का ऋकार या रकार सर्वथा लुप्त हो गया है। धात्वर्थ का पता नही लगता। यह बात प्रकट हैकि पहले 'कर्म' था फिर उसी का विकृत रूप 'कम्म' है। इसी प्रकार धर्म और धम्म में ध्वन्यात्मक सादृश्य होते हुये भी धर्म में धृ (धारण करने) का भाव विद्यमान है। 'धम्म' में उसका लोप हो गया। ऊपर का छिलका शेष है। भीतर की गिरी लुप्त हो गई। इसलिये जब हम कहते हैं कि वेद माता ने मानव जाति को बोलना सिखाया, तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है। इसी प्रकार विचारों की बात है। भूमण्डल के समस्त धर्मों. सम्प्रदायों और संस्कृतियों में जो अच्छी-अच्छी बाते पाई जाती हैं, वे सब उन संस्कृतियों के जन्म से सहस्रों वर्ष पूर्व वेदों में उपस्थित थीं। काशी के गंगाजल और गंगोत्तरी के गंगाजल में बहुत कुछ सादृश्य है। परन्तु कोई यह नहीं कह सकता कि गंगोत्तरी का गंगाजल काशी से गया है। क्योंकि काशी पीछे की चीज है और गंगोत्तरी पहले थी। इसलाम के जन्म से हजारों वर्ष पूर्व वेदों मेंएक ईश्वर-वाद था। ईसाई बाइबिल से हजारों वर्ष पूर्व वेद में ईश्वर के लिये पिता शब्द आ चुका था। अतः वेदमाता भाषा भी सिखाने वाली है और आचार भी सिखाने वाली। वेद ने भोग और अपवर्ग दोनों की शिक्षा दी है।

(२) दूसरी बात यह कि विद्वान् ब्राह्मणों द्वारा की गई पावमानी स्तुतियां मनुष्यमात्र को धर्म पर चलने की प्रेरणा करती हैं। ऋग्वेद के ९ वें मण्डल के ६७ वें सूक्त की ७ ऋचायें (मंत्र २१-२७) पावमानी ऋचायें कही जाती हैं .—

यदन्ति यच्च दूरके—भयंविन्दति मामिह।
पवमानवितज्जहि।

ऋग्वेद (९-६७-२१)

(यत्) जो (अन्ति) समीप में (यच्च दूरके) और जो दूर (भयं) भय (इह) इस संसार में (मां) मुक्त को (विन्दति) प्राप्त

होवे। (तत्) उसे(हे पवमान)पवित्र करने वाला ईश्वर (वि जहि) दूर कर दीजिये।

पवमानः सो अद्य नः पवित्रेण विचर्षणिः।
यः पोता स पुनातु नः

ऋग्वेद ९-६७-२२

(सः विचर्षणिः पवमानः) वह सर्व-द्रष्टा पवित्र करनें वाला ईश्वर (पवित्रेण) पाप-संशोधक तेज से (अद्य नः) आज हमको पवित्र करे। (यः पोता स पुनातु नः) ईश्वर हम सब का (पोता) संशोधक है। वह हमको पवित्र करे।

यत्ते पवित्र मर्चिष्यग्ने विततमन्तरा।
ब्रह्म तेन पुनीहि नः।

(ऋ० ९-६७-२३)

(अग्ने) हे अग्नि (ते अर्चिषि) तेरे संशोधन सामर्थ्य में (यत् पवित्रं) जो शुद्ध करने वाजी योग्यता (अंतरा विततम्) भीतर विद्यमान है (तेन) उस सामर्थ्य द्वारा (नः ब्रह्म) हमारे आध्यात्मिक तेज को (पुनीहि) पवित्र कीजिये।

यत्ते पवित्रर्मचिवदग्ने तेन पुनीहि नः।
ब्रह्मसवैः पुनीहि नः।

[ऋ० ९-६७-२४]

(अर्चिवत् अग्ने) हे प्रकाश स्वरूप अग्नि (यत्ते पवित्रं तेन) जो तेरा पवित्र करने वाला सामर्थ्य है (नः पुनीहि) हमको पवित्र कीजिये। (ब्रह्म-सवैः) आध्यात्मिक स्तुतियों द्वारा हम को पवित्र कीजिये।

उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च।
मां पुनीहि विश्वतः।

(ऋ० ९-६७-२५)

हे सविता या प्रेरक ईश्वर पवित्र और सव दोनों से अर्थात्

मल-नष्ट करने वाली क्रियाओं तथा आध्यात्मिक तेज धारण कराने वाली प्रवृत्तियों द्वारा हमको पवित्र कीजिये ।

त्रिभिष्ट्वं देव सवितर्वर्षिष्ठैः सोम धामभिः ।
अग्ने दक्षैः पुनीहि नः

(ऋ० ९-६७-२६)

हे सविता देव सोम, (त्वं) तू (त्रिभिः) तीन (वर्षिष्ठैः) वृद्धतम (दक्षैः) योग्य (धामभिः) धामों द्वारा हमको पवित्र कीजिये ।

पुनन्तु मां देवजनाः पुनन्तु वसवो धिया ।
विश्वेदेवा पुनीत मा जातवेदः पुनीहि मा ।

ऋ० ९-६७-२७

देवगण मुझे पवित्र करें। वसुजन बुद्धि द्वारा मुझे पवित्र करें। सब देव मुझे पवित्र करें। ज्ञानस्वरूप ईश्वर मुझे पवित्र करे ।

इन ऋचाओं को ऋषियों ने पावमानी ऋचायें कहा है। यों तो समस्त वेद ही 'पावमानी' अर्थात् मनुष्य के जीवन को पवित्र करने वाला है। परन्तु इन सात पावमानी ऋचाओं के पाठ, जप तथा विचार से मनुष्य को धार्मिक जीवन व्यतीत करने में प्रेरणा मिलती है ।

(३) तीसरी बात है सात वरों की। आयुः, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण और ब्रह्मवर्चस् । भौतिक या अभौतिक जितनी चीजों की मनुष्य इच्छा कर सकता है उन सब का इन सातों में समावेश हो जाता है। यह सात वर इतने स्पष्ट हैं कि इनकी विस्तृत व्याख्या की आवश्यकता नहीं। प्रत्येक प्राणी का यह अनुभव है। और ज्यों-ज्यों मनुष्य उन्नति के सोपान पर चढ़ता जाता है, उसे इन वरों की उत्तरोत्तर महता की अनुभूति होती जाती है । दीर्घ जीवी होना

पहला वर है। कोई मरना नहीं चाहता। परन्तु जीवन प्राण हीन हो तो दुःखदायी है। उसको अनुप्राणित करने के लिये कुछ आशायें होनी चाहियें। निराशामय जीवन से दुःखी होकर ही लोग आत्मघात करते हैं। अतः जीवन से आगे बढ़कर प्राणों का मूल्य है। इन दो वरों के मिलने पर 'प्रजा' की इच्छा प्रबल होती है। "एकोहं बहुस्याम्"। मैं अकेला हूं, बहुत हो जाऊं। पुत्र, पौत्र हों। इसके पश्चात् इन तीन की कमी को पूरा करने के लिये पशु चाहियें। घोड़ा, गाय, कुत्ते आदि मानवी जीवन के पूरक हैं। वर्तमान वैज्ञानिक युग का सब से बड़ा दोष है पशुओं की अवहेलना। यंत्रों के आधिक्य ने पशुओं के लिये कोई स्थान नहीं छोड़ा। वैदिक गृहस्थ में पशु एक विशेष अंग समझे जाते थे * इन चार चीजों के होते हुये भी कीर्ति (यश) न हो तो जीवन किस काम का। कीर्ति क्या है? आप के शुभ कर्मों के विषय में समाज का प्रमाण-पत्र (सार्टी-फिकेट)। जब हम समाज सेवा करते हैं तो हर मनुष्य के हृदय से आवाज उठती है कि यह मनुष्य हमारा हितैषी है। जिस दिन महात्मा गांधी की हत्या हुई एक भंगी का लड़का एक दुकान पर खड़ा कह रहा था "महात्मा जी हमारे थे। अब हमारी सुध कौन लेगा?" 'द्रविण' में सभी

---

* स्वामी दयानन्द ने संस्कार विधि के गर्भाधान संस्कार में गोभिल गृह्य सूत्र (२, ५, २, ६,), मंत्र ब्राह्मण (१-४-१) तथा पारस्कर गृह्य सूत्र (१-११-१-३१) के आधार पर बीस प्रायश्चित्त आहुतियां दी हैं' इन आहुतियों के मंत्रों के अर्थों पर विचार कीजिये। इन मंत्रों में प्रार्थना की गई है कि पत्नी को नीचे लिखे चार दोष न आने पायें:—

१. "यास्याः पापी लक्ष्मी स्तानूस्तामस्या अपहत" २. "यास्या : पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपहत" ३. "यास्या अपुत्र्या तनूस्तामस्या अपहत। ४. "यास्या अपशव्या तनूस्तामस्या अपहत।

पत्नी में चार त्रुटियां हो सकती हैं। पापवासना, पति-द्रोह, पुत्रोत्पत्ति की अयोग्यता, पशुओं से अप्रेम। इन चारों से बचने के लिये प्रायश्चित्त आहुतियां इनमें पशु-पालन भी उतना ही आवश्यक है जितनी अन्य तीन बातें।

संसारिक इच्छाओं का समावेश है। द्रविण पर्याय है अभ्युदय का (द्रविण= Prosperity or Prosperous life) 'अभ्युदय' किसी एक कामना की पूर्ति का नाम नहीं है। यह एक व्यापक शब्द है। पूर्ण जीवनही 'द्रविण' है। इनके बाद नम्बर है 'ब्रह्म-वर्चस्' का ! यह अन्तिम सोपान है। "ब्रह्मवित्' ब्रह्म एव भवति"। ब्रह्म वेत्ता होना ही निःश्रेयस् है, इसी का नाम मोक्ष है। इसी का "**परागति**"। **अभ्युदय** निःश्रेयस् के लिये ही होता है। 'अभ्युदय' यात्रा है। और निःश्रेयस् साध्य है'। साध्य न हो तो साधन बेकार है, भौतिक जीवन तो यात्रा का पड़ाव मात्र है। एक पड़ाव जाता है, दूसरा आता है। यह क्रम बराबर जारी रहता है जब तक कि अन्तिम स्थान न आ जाय जहांपहुँचना हमारा ध्येय था, इसलिये 'ब्रह्मवर्चस, सबसे उत्कृष्ट ध्येय है।

चौथी बात मंत्र में यह बताई गई कि हे विद्वानों 'ब्रह्मलोक' की प्राप्ति से पहले तुम मेरे लिये इन सात वरों की प्राप्ति के साधन जुटाओ अन्यथा तुम को ब्रह्मलोक की प्राप्ति न होगी। सब से बड़ा वह नहीं है जो मोक्ष पाना चाहता है। अपितु वह है जो दूसरों को मोक्ष दिलाना चाहता है। "मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्म लोकम्"। मेरा भाग मुझे देकर ब्रह्म लोक को जाइये। कहते हैं कि स्वामी दयानन्द को किसी ने कहा था कि व्यर्थ वेद प्रचार के पचड़े में पड़े हो, योग करो और मोक्ष हो जायेगा। स्वामी दयानन्द ने उत्तर दिया कि जब संसार अविद्या की दासता में पड़ा सड़ रहा है, तो मुझे मोक्ष कैसे मिल सकता है। महात्मा गांधी के लिये यह कठिन न था कि वे अंग्रेजी शासन की दासता से स्वयं मुक्त हो जाते। इग्लैण्ड का नागरिक बन जाने से यह ध्येय पूरा हो सकता था। परन्तु इससे भारतीय लोगों के दासत्व का अन्त तो न हो सकता था, अतः महात्मा गांधी ने समझा कि जब तक देशवासी गुलाम हैं मेरी स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं।

जनता पुकार कर कहती है कि मेरा ऋण चुकाकर ही तुम ब्रह्म लोक को जा सकते हो अन्यथा नहीं। जिसने रेल का भाड़ा नहीं चुकाया वह तो रेल से उतर कर घर नहीं जा सकता। आपके सात वरों में से एक यह भी है कि जनता द्वारा इन सात वरों की प्राप्ति के जो साधन आप जुटा सकते हैं, उनमें आप कमी न करें। कर भला, ईश्वर तेरा भला करेगा।

२६-मृत्यु से अभय !

अकामो धीरो अमृतः स्वम्यभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्।

अथ० १०।८ ४४

शब्दार्थ –(आकाः) निष्काम (धीर) धीर अमृतः) अमर (स्वयम्भू) अपने आप वर्त्तमान (रसेन) रस से (तृप्तः) सन्तुष्ट (न) नहीं (कुतःचन) कहीं से (ऊनः) न्यून (तम्) उसको (एव) ही (विद्वान्) जानता हुआ (विभाय) डरता है न-नहीं (मृत्यः) मृत्यु से (आत्मानम्) आत्मा को (धीरम्) धीर को (अजरम) जरा रहित को (युवानम्) युवाको।

भाषानुवाद–(जीवात्मास्वभावतः) निष्काम, धीर, अमर, अपने आप वर्त्तमान (परमात्मा के प्रेम) रस से तृप्त है, और इसमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं है। इसे ही आत्मा का धीर, जरारहित तथा (नित्य) युवा जानता हुआ (मनुष्य) मृत्यु से भय नहीं करता।

ENGDISH TRANSLATION

That individual soul is desireless, firm, immortal, self—existent, contented with the essence (of Divinlty) and lacking nothing (for its perfection). The man who knows the individual soul to be firm, undecaying and ever young does not fear death . Ath X. 8. 44.

३० ब्रह्म कैसा है ?

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वेनिषेदुः ।
यस्तन्नवेद किमृचा करिष्यति यइत् तद् विदुस्त इमे समासते ।।

ऋग्वेद मण्डल सूक्त १६४, मन्त्र ३६

अन्वयः—ऋचः अक्षरे परमे व्योमन् (व्योम्नि) यस्मिन् विश्वेदेवाः अधि निषेदुः । यः ततू न वेद(सः) ऋचा किं करिष्यति । ये (विद्वांसः) तत् इत् विदुः ते इमे समासते ।

अर्थः : (ऋचः) ऋक् आदि वेदो के (द्वारा प्रतिपादित) अक्षरे कभी नाश को प्राप्त न होने वाले (परमे) सबसे बड़े (व्योमन्=व्योम्नि) आकाश के समान व्यापक (यस्मिन्) जिस ब्रह्ममें (विश्वे देवाः) सब दिव्य आत्मा विद्वान्, शक्तियां वा पदार्थ स्थित हैं । उस ब्रह्म को (यः) जो पुरुष (न वेद) नहीं पहचानता वह (ऋचा) वेद से (किं करिष्यति) क्या लाभ उठा सकता है ? अर्थात् उसके लिये वेद बेकार चीज हैं । परन्तु (ये) जो लोग (तत्) उस ब्रह्म को (इत्) भलीभांति (विदुः) पहचानते हैं । (तइमे) ऐसे वे लोग (समासते=सं आसते) अच्छी स्थिति में रहते हैं ।

व्याख्या— इस वेदमंत्र में दो मुख्य बातो का प्रतिपादन किया गया है । पहली बात यह है कि समस्त वेदों का मुख्यतम विषय है ब्रह्म के गुण, कर्म और स्वभाव का वर्णन । दूसरी बात यह है कि वेदाध्ययन का मुख्य उद्देश्य है ब्रह्म की पहचान । जो वेद पढ़ता है परन्तु ब्रह्म को नहीं पहचानता, उसको वेदाध्ययन से कोई लाभ नहीं होता ।

वेद चार है— ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद । इन्ही के समझने के लिये इनकी व्याख्या-रूप अथवा इनके अध्ययन मे सहायता

देने वाले छः अंग हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। तथा छः उपाँग है जिनको षड्दर्शन (या छः शास्त्र) कहते हैं, अर्थात् न्याय दर्शन, वैशेषिक दर्शन, सांख्य दर्शन, योग दर्शन, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा और (वेदान्त) इनके अतिरिक्त प्राचीन काल से लेकर अब तक के विद्वानों ने अपनी विद्या, अनुभव, तथा विचारों द्वारा वेदों की शिक्षा पर जो प्रकाश डाला है जैसे ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदें, भाष्य या व्याख्यान ग्रंथ है। यह सब वेदों के सहायक ग्रंथ हैं, इनकी प्रामाणिकता भिन्न-भिन्न कोटि की है। वेदों का पूर्वमीमांसा में महामुनि जैमिनि ने इस प्रकार लक्षण दिया हैः—

(१) तेषाँ ऋक् यत्र अर्थवशेन पादव्यवस्था।

(२) गीतिषु सामाख्या।

(३) शेषे यजुः शब्दः।

(४) निगदोवा चतुथ स्यात् धर्म विशेषात्॥

(जैमिनिसूत्र अर्थात् पूर्वमीमांसा अध्याय २, पाद १, सूत्र ३५, ३६, ३७, ३८) इनमें ऋक्, ऋच्, ऋचा अर्थात् ऋग्वेद वह है जिसमें अर्थ की अपेक्षा से पाद-व्यवस्था है। अर्थात् गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्तिः, त्रिष्टुप्, जगती आदि सात प्रसिद्ध और कुछ अन्य छन्दों की व्यवस्था पाई जाती हैं ऋचाओं का सामान्य नाम ऋग्वेद है। इसके मंत्र 'ऋचायें' कहलाते हैं।

ऋग्वेद के इन्हीं मंत्रों को जब संगीत शास्त्र के नियमों द्वारा हज़ारों प्रकार की लय या तानों में गाया जाता है, तो इनकी 'साम' संज्ञा हो जाती है, और इनका सामान्य नाम है सामवेद।

इन्हीं मंत्रों का पाठ तथा गान के अतिरिक्त शेष अर्थात् कर्मकाँड में प्रयोग होता है तो मंत्र तथा मंत्र के विनियोग का निर्देश मिलाकर इनकी "यजुः" (यजूंषि) संज्ञा हो जाती है, इसी का सामूहिक नाम यजुर्वेद है।

इसके अतिरिक्त अधिक विस्तार से समझने के लिये जो विशेष धर्मों का वर्णन है वह है 'निगद' और उनका नाम है अथर्ववेद।

इस प्रकार सब वेदों का मूलाधार है ऋक् अर्थात् ऋग्वेद। यह नहीं समझना चाहिये कि चार वेद कोई भिन्न-भिन्न चीजें हैं और उनका कोई परस्पर सम्बन्ध नहीं है। शास्त्र एक ही है। तंत्र एक ही है। चार तंत्र या चार विधान नहीं। ऋग्वेद के अर्थ सहित अध्ययन का उद्देश्य है ज्ञानोपार्जन। सामवेद के मंत्र अलग नहीं। 'साम' नाम है केवल संगीत का। एक विशेष प्रकार का संगीत जिसमें वह ऋग्वेद का मंत्र गाया जाय। ऋग्वेद के जिस मंत्रको गाते हैं उसको साम की योनि कहते हैं। और जिस प्रकार गाते हैं उसका नाम 'साम' है। किसी गीत को गाने में जो भिन्न-भिन्न तान या लय होते हैं वह शब्दों के अर्थों को बदल नहीं देते, इसी प्रकार ऋग्वेद के जो मंत्र सामवेद में गाये जाते हैं उनके अर्थों में भेद नहीं है, केवल संगीत या गायन में भेद है। यह बात हमने यहां कुछ विस्तार के साथ इस लिये वर्णन कर दी है कि इनके विषय में भांति-भांति की भ्रांतियां हैं। लोगों के हृदय में सन्देह उठता है कि एक वेद होना चाहिये चार क्यों हुये ? यदि लोगों को यह ज्ञात हो जाय कि वास्तविक रूप में वेद एक ही हैं। चार प्रकार के प्रयोग हैं तो यह शंका दूर हो जाय, दूसरी बात यह है कि अर्थ-भेद की अपेक्षा से ही सामवेद का अलग भाष्य किया जाता है। यह भी उचित प्रतीत नहीं होता। सामवेद का वास्तविक भाष्य तो यही है कि उन नियमों का निरूपण किया जाय जिनके द्वारा अमुक ऋचा गाई जाती हो। सामवेद का साम-धर्म व्याकरण का विषय नहीं, छन्दो गान का विषय है। कहा जाता है कि सामवेद की एक सहस्र एक शाखायें हैं। सहस्र का अर्थ शायद बहुत्व हो। परन्तु तात्पर्य तो यह है कि सामवेद अनेक प्रकार से गाया जाता है। संगीत शास्त्र न विधान- तंत्र है, न व्याकरण या निरुक्त है, काव्य भी नहीं। अपितु शुद्ध संगीत है और सामवेद का यही

विषय है। समस्त सामवेद के अध्ययन और ऋग्वेद से मिलान करने से यही बात स्पष्ट होती है और यही वैदिक सिद्धान्त भी है।

इसी प्रकार यजुर्वेद और अथर्ववेद के अध्ययन से भी जैमिनि मुनि की ऊपर दी हुई व्याख्या की पुष्टि होती है।

इतनी कुछ प्रसंग से हटी हुई परन्तु आवश्यक व्याख्या के पश्चात् अब हम मंत्र की व्याख्या करने का प्रयास करेगें।

'ऋचः' षष्ठी एकवचन है। 'ऋचा का' अर्थात् ऋचा द्वारा प्रतिपादित विषय का। यहां 'ऋक्' या ऋचा केवल ऋग्वेद के लिये नहीं अपितु समस्त वेदों का सूचक है। सायणाचार्य ने भी इस मंत्र के भाष्य में लिखा है।

"अत्र ऋक् शब्देन ऋक्-प्रधान भूताः सांगापरविद्यात्मकाश्चत्वारो वेदा उच्यन्ते।" अर्थात् इस मंत्र में ऋक् शब्द से ऋक्-प्रधानता लाने वाले वेदांगों सहित अपरा विद्या के अन्तर्गत चारों वेदों का अवबोधक होता है।

सायणाचार्य की यह उक्ति सर्वथा समीचीन है और इसको ठीक-ठीक समझने के लिये हमारा ऊपर का विस्तृत कथन जो शायद पाठकगण को प्रसंग से बाहर प्रतीत होता हो प्रासंगिक, आवश्यक और क्षम्य सिद्ध होगा। उपनिषद् ने भी इसी बात को दुहराया है:—
"सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति। तत् ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ओ३म् इति एतत्।" (कठोपनिषद् अध्याय १, वल्ली २, मंत्र १५) अर्थः—सब वेद जिस पद का मान करते हैं सब प्रकार के तपों का एकमात्र उद्देश्य जो पद है, जिस पद की इच्छा से ब्रह्मचर्य के घोर व्रत का पालन किया जाता है, उस पद को मैं अत्यन्त संक्षिप्त भाषा में तुझ से कहता हूँ, वह पद "ओ३म्" है।

इस वेदमंत्र में इसी 'ओ३म्' पद को अक्षर कहा गया है क्योंकि हय अविनाशी है, संसार की समस्त सत्तायें परिवर्तनशील और अल्प हैं; अपूर्ण हैं। ओ३म् पद पूर्ण है। "परम" है। इससे

परे और इससे अधिक कोई अन्य पद नहीं। ऋग्वेद में अन्यत्र कहा है:—

नकिरिन्द्र त्वदुत्तमोन ज्यायाँ अस्ति वृत्रहन्।
नकिरेवा यथा त्वम्।

(ऋग्वेद मण्डल ४, सूक्त ३०, मंत्र १)

अर्थात् प्रभु से ऊपर कोई नहीं, उससे बड़ा कोई नहीं, उस जैसा कोई नहीं।

व्योमन्=व्योम्नि ('अक्षरे', और 'परमे' के समान् व्योमन् भी सप्तमी विभक्ति है।)

'व्योम्' आकाश को कहते हैं। आकाश वह सूक्ष्मतम तत्त्व है जो सब वस्तुओं में है और जिसमें सब वस्तुयें हैं। आकाश सब का स्थान है, अर्थात् स्थिति का आश्रय, इसलिये यजुर्वेद के अन्त में 'ओ३म् खं ब्रह्म' ओ३म् को 'खं' कहा गया क्योंकि 'खं' कहते हैं आकाश को। आकाशवत् व्यापकत्वात् खम्" (देखो सत्यार्थ प्रकाश समु १)।

आकाश का नाम 'व्योमन् क्यों पड़ा। व्योमन्=वि+ओम्+अन्। अर्थात् आकाश में जो व्यापकत्व है वह भी ब्रह्म का है इस प्रकार ब्रह्म और आकाश दोनों परस्पर उपमा और उपमेय हो जाते हैं।

'विश्वेदेवा यस्मिन् अधिनिषेदुः'—जो सब देवों का अधिष्ठान है जिस प्रकार वृक्ष के फल, फूल, पत्र आदि का अधिष्ठान उस वृक्ष का मूल होता है उसी प्रकार ब्रह्म सब देवों का मूलाधार है। जिस प्रकार मूल से ही रस स्रवित होकर वृक्ष के अन्य अवयवों के जीवन और अभिवृद्धि का साधन होता है इसी प्रकार समस्त दिव्य पदार्थ एक ईश्वर से ही अपने जीवन के साधन प्राप्त करते हैं। आर्य समाज के पहले नियम में इसी अक्षर परम और सर्वव्यापक सत्ता को "आदि-मूल परमेश्वर" कहकर पुकारा है। यदि पूछा जाय कि पीपल के पत्ते का आधार क्या है ? तो उत्तर होगा पीपल की डाली। डाली का आधार ? पीपल का तना। तने का आधार पीपल का

मूल ! मूल का आधार ? पृथ्वी ! पृथ्वी का आधार ? सूर्य ! सूर्य का आधार ? आकाश ? आकाश का आधार ? शेष अर्थात् परब्रह्म क्योंकि उसके आगे तो कुछ शेष रहता ही नहीं। वह पराकाष्ठा है, परम है, जिसने उसको समझ लिया, उसने सब कुछ समझ लिया !

परन्तु वेद ने इस मंत्र में एक विचित्र बात कही। वेद आदि शात्रों का पढ़ना साधन है साध्य नहीं। यदि वेदाध्ययन से ब्रह्म की अनुभूति नहीं होती तो वेदाध्ययन का कोई उपयोग नहीं है। वेद मंत्रों का पढ़ सकना, उसके शब्दों की व्युत्पत्तियों का बोध होना, वेद मंत्रों का कण्ठ करना, सस्वर गाना यह सब अच्छी चीजें हैं और आवश्यक भी हैं परन्तु वहीं तक जहां तक इनको साधन के पद में रक्खा जाय, यह साध्य नहीं है। केवल अक्षर और परम ब्रह्म की अनुभूति ही साध्य है, उसीके लिए यह सब प्रयत्न है, यदि आप किसी मित्र से मिलने के लिए बड़ी यात्रा करें और वह मित्र न मिले तो यात्रा सुरम्य होते हुए भी निरर्थक ही रहती हैं, इसी प्रकार वेद ने स्पष्ट और कान खोल कर बता दिया है कि जो पंडितवर्ग केवल शब्द मात्र को अपने पाण्डित्य का ध्येय समझता है वह पंडित नहीं "**पण्डित मन्यमानाः**" भूल से अपने को पण्डित मान रहा है।

इसीलिए सायण के ऊपर के उद्धरण में 'अपरा' शब्द पड़ा है। उपनिषदों ने विद्या के दो भेद किये। एक परा और दूसरी अपरा। अपरा विद्या का सम्बन्ध वाणी और कान तक सीमित है, क्योंकि केवल शब्द ही उस विद्या का अन्तिम विषय है। स्कूल और कालेजों में अपरा विद्या ही सिखाई जाती है, इसको आप रटन्त विद्या कह सकते हैं। सारा वैदिक वाङ्मय यही अपरा विद्या है। तत्त्वज्ञान अपरा विद्या से आगे की चीज़ है, और वही विद्याध्ययन का ध्येय है।

परा और अपरा इन दोनों के भेद को जो विद्वान् नहीं समझता

वह विद्वान होते हुए भी अविद्वान् है। समझता हुआ भी नहीं समझता। वेदमंत्र में इतने प्रबल शब्दों में इस बात का वर्णन करना प्रकट करता है कि यह भूल छोटी सी या आकस्मिक नहीं है जिसकी उपेक्षा की जा सके। प्रायः संसार भर इस धोखे में फंसा हुआ है। मूर्ख और अशिक्षितों की बात जाने दीजिए, उनकी बात कहिये जिनको आप विद्वान कहते हैं या जो आपको विद्वान समझते हैं। वे केवल शब्दकोष को प्राप्त करके ही अपने को सबकुछ समझ बैठते हैं कहते हैं किसी शिष्य ने अपने विद्यालय की उच्चतम उपाधि प्राप्त करके आचार्य से आज्ञा मांगी कि अब मुझे घर जाने की आज्ञा प्रदान कीजिये, मैंने अपना अध्ययन "समाप्त" कर लिया। समाप्त शब्द को सुनकर आचार्य ने शिष्य को डांटा। अरे! मैंने तो अभी अध्ययन "आरम्भ" किया है, तू अपने अध्ययन को समाप्त बताता है?। जो आरम्भ को अन्त समझता है, उसको विद्वान् कैसे कह सकते हैं? क्या ऐसे धोखे में पड़े हुए विद्वानों से जगत् भरा नहीं पड़ा? इसलिये यदि वेद ने स्वयं अपनी सीमा को निर्धारित करते हुए हम लोगों को यह आवश्यक चेतावनी दी है तो इसमें कोई अत्युक्ति की बात नहीं है। भगवद्गीता में भी तो इसी मूर्खता से सावधान रखने के लिये अर्जुन को कहा गया है:—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।

गीता २।४५

अर्थात् वेदशास्त्र तो अपरा विद्या के अन्तर्गत आते हैं, यह तो सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण रूपी प्राकृतिक वस्तुओं से सम्बन्ध रखते हैं। तू अपरा विद्या से आगे बढ़कर परा विद्या अर्थात् ब्रह्म को पहचानने का यत्न कर।

कुछ लोग समझते हैं कि इस श्लोक में वेदों की निन्दा की गई है और अर्जुन को वेदशास्त्र अध्ययन की अनावश्यकता बताई गई है। यह मानना ठीक नहीं। यदि गीताकार का अभिप्राय यह होता तो १६ वें अध्याय के २३ वें श्लोक में यह न कहा जाता:—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।[1]

(गी० १६।२३

जो बात वेदमंत्र में है वही गीता के इस श्लोक में है। न वेद स्वयं अपने को अनावश्यक बता सकता था न गीता ने ही वेद को अनावश्यक बताया है। वेद भी कहता है कि यदि पठन मात्र के पश्चात् ब्रह्म की अनुभूति नहीं होती तो यात्रा का अन्तिम लाभ तो नहीं हुआ। गीता ने भी इस अपूर्ण अवस्था से ऊपर उठाने के लिये उपदेश दिया है, अन्त में कहा कि "ये इत्तद् विदः ते इमे समासते"। अर्थात् जिन्होंने उस अक्षर परम और आकाशवत् व्यापक ब्रह्म को पहचान लिया वे सबके सब अपने अन्तिम ध्येय अर्थात् "परां गतिं" को प्राप्त करके सुख उठाते हैं, इसलिए परमात्मा को छोड़कर दूसरी लोभायमान वस्तुओं की पूजा करना उचित नहीं है।

—वेद कहता है—

वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिता।

यजुर्वेद ९—२३

शब्दार्थ—(वयम) हम (राष्ट्रे) देश में (जागृयाम) जागें, सावधान हों (पुरोहित) बनकर।

अन्वय—हम अपये देश में सावधान होकर पुरोहित अगुआ बने।

May we remain awake as leadedrs in our kingdom.

३१ प्रभु का काव्य देख !

अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।

(अथर्ववेद काण्ड १०,सूक्त ८, मंत्र ३२)

अन्वय:—अन्ति सन्तं न जहाति। अन्ति सन्तं न पश्यति। देवस्य काव्यं पश्य। (इद काव्यं) न ममार, न (च) जीर्यति।

अर्थः—(देवस्य) परमात्मा के (काव्य) काव्य को (पश्य) देखो! (अन्ति सन्तं) वह इतना निकट है कि (न जहाति) कोई उसको छोड़ नहीं सकता (अन्ति सन्तं) वह इतना निकट है कि (न पश्यति) कि कोई उसे देख नहीं सकता। फिर भी (न ममार) ईश्वर का वह काव्य (न ममार) कभी मरता नहीं (न जीर्यति) न जीर्ण होता है।

व्याख्या—ईश्वर (स पर्यगात्) सम्पूर्ण सृष्टि में व्यापक है। छोटे से छोटा परमाणु भी उससे अलग नहीं है।

निहां[1] है ज़र्रे ज़र्रे में, अयाँ[2] है ज़र्रे ज़र्रे से।
मुनव्वर[3] पर्दा है, पर्दानशीं के रूये रोशन से।

उपनिषद् कहती है :—

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः
स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं
स्वस्तिवः पाराय तमसः परस्तात्॥

(मुण्डक उपनिषद्, मुण्डक २, खण्ड २, मंत्र ६)

जिस प्रकार रथ के पहिये की नाभि में अरे लगे रहते हैं जिन

के सहारे पहिया अपनी परिधि को यथेष्ट अवस्था में रखता है उसी प्रकार मनुष्य के हृदय में नाड़ियां लगी हुई हैं। उस हृदय के भीतर एक और महती शक्ति काम करती है जो अपने अस्तित्व को नाना प्रकार से प्रकाशित और प्रमाणित करती है। यही शक्ति परमात्मा है। इसी का नाम 'ओ३म्' है। इसको अपने आत्मा के अन्दर आत्मा का भी आत्मा समझकर ध्यान करो। ऐसा करने से तुम अन्धकार से पार हो जाओगे और तुम्हारा कल्याण होगा।

उपनिषद् के इस वचन में बताया गया है कि जैसे परमात्मा हर वस्तु के भीतर विराजमान है उसी प्रकार हमारे हृदयों के भीतर भी है। और वही जिस प्रकार ब्रह्माण्ड को चलाता है उसी प्रकार इस पिण्ड को भी चलाता है। इस समस्त व्यवस्था को वेदमंत्र में 'काव्य' के नाम से सम्बोधित किया है। यजुर्वेद के एक मत्र में (४०-८) ईश्वर को कवि कहा था। अथर्ववेद में इस कवि के काव्य को दर्शाया है। जिस प्रकार कालिदास की कृतियां कालिदास की बुद्धि को प्रमाणित करती हैं उसी प्रकार प्रभु की प्रभुता इस जगत-मयी कविता से प्रकट होती है। काव्य में छन्दों की पद-व्यवस्था होती है इसी प्रकार सृष्टि के अंग-प्रत्यँग में एक रहस्यमयी व्यवस्था है। काव्य को परखने के लिये काव्य को परखने वाली निर्मल बुद्धि चाहिये। इसी प्रकार जगत्‌रूपी काव्य की व्यवस्था भी हर एक की समझ में नहीं आती। परन्तु जिस प्रकार साहित्य के परखने वाले कवि के एक-एक शब्द पर लट्टू हो जाते और आनन्द से झूमने लगते हैं इसी प्रकार प्रभु के इस विशाल काव्य को देखकर भक्त की निर्मल आत्मा मोद -प्रमोद से आपूर्ण हो जाती हैं। अंग्रेजी भाषा के कवियों ने आकाश के लोकलोकान्तरों का निरीक्षण करके कहा है 'म्यूजिक इन दी स्फिर्यस' (Music in the Spheres) अर्थात् ग्रहों उपग्रहों की चाल क्या है एक प्रकार की राग-रागनियां हैं जिनकी आनन्ददमयी रश्मियाँ चारों ओर गुंजरित हो रही हैं। यही प्रभु का काव्य है। और वेदमंत्र मनुष्य को उपदेश देता है कि इसी काव्य

को देखने और समझने का यत्न करना चाहिए।

इस काव्य के लिये कहा कि यह "अन्ति सन्त" अत्यन्त समीप है। समीप से भी समीप। अर्थात् घनिष्ठ। जो चीज़ अत्यन्त समीप है वह छोड़ी नहीं जा सकती। आप उस चीज़ को छोड़ सकते हैं जिससे आपका सम्बन्ध किसी आकस्मिक घटना द्वारा हुआ हो। परन्तु सृष्टि का सृष्टिकर्त्ता के साथ आकस्मिक सम्बन्ध तो है नहीं। जो लोग समझते हैं कि सृष्टि अकस्मात् बिना कारण के हो गई और सृष्टि तथा सृष्टिकर्त्ता में समवाय-समवायि सम्बन्ध नहीं है वह सृष्टि के कार्य को नहीं समझते। जो समझते हैं कि कुछ प्रकृति के पदार्थ अकस्मात् मिल गये हैं और इनके लिये किसी कवि की आवश्यकता नहीं, वह स्पष्ट घटनाओं से भी आंखें मीच लेते हैं। एक बार एक युवक ने मुझे एक कम्युनिस्ट नेता का एक ग्रंथ दिया शायद वह कार्ल मार्क्स के प्रसिद्ध शिष्य गोरकी का था। वह मेरे पास वह ग्रन्थ इसलिये लाया था कि उससे ईश्वरवाद का खण्डन होता था। उसके शब्द इस प्रकार थे (The world is an organized matter) अर्थात् सृष्टि क्या है? केवल जड़ माद्दे का एक सुव्यवस्थित स्वरूप। मैंने उस युवक को यह वाक्य दिखाया और उससे पूछा कि आर्गेनाइज्ड' या सुव्यवस्थित का क्या अर्थ है। क्या बिना व्यवस्थापक के भी व्यवस्था हो सकती है? क्या बिना चतुर हलवाई के भी घी, चीनी और आटा मिलकर स्वादिष्ट हलवा बन सकता है? यदि नहीं तो संसार के इतने अद्भुत पदार्थों को देखकर तुम व्यवस्थापक को क्यों भूल जाते हो। अंगूर, सेव, नारंगी, अनार किसी स्वादिष्ट फल को ले लीजिये। है तो यह सब जड़ पदार्थों का ही मेल। परन्तु क्या एक फल और दूसरे फल में पदार्थों का वह मेल बिना व्यवस्थापक के हुआ है? अकस्मात्वाद के पोषकों का कहना है कि चीनी के परमाणु और खटाई के परमाणु अलग अलग विद्यमान थे। वह किसी विशेष प्रगति के कारण घुणाक्षरन्याय से ऐसी अवस्था में आ गये कि एक अंगूर और दूसरा सेव हो गया। किसी दूरस्थ भूत-

काल से प्रकृति के परमाणु आपस में टकराते रहे। अन्त में एक ऐसी अवस्था आ गई कि हम उसको वर्तमान सृष्टि के रूप में देखते हैं। इस में ईश्वर का कोई काम नहीं। (Flint) (फ्लिण्ट) महोदय ने एक उत्तम पुस्तक लिखी है। जिसका नाम है थीइज़्म (Theism) या ईश्वरवाद। इसमें फ्लिण्ट ने इस कुतर्क का उत्तर दिया है। वह कहता है कि किसी प्रेस में चले जाइये। वहां लोहे के अक्षरों को ले लीजिये। और कम्पोजीटरों से कहिये कि इनको उछालते रहो। क्या तुम समझते हो कि एक दिन ऐसा आयेगा जब उछलते-उछलते, टकराते-टकराते वे अक्षर शेक्सपियर के नाटकों का रूप धारण कर लेंगे। शेक्सपियर का काव्य तो एक दक्ष कवि का काव्य है। और उस काव्य की व्यवस्था को समझकर ही साधारण बुद्धि से अल्प-शिक्षित कम्पोज़िटर भी धड़ाधड़ शेक्सपियर के काव्यों को प्रकाशित करने में समर्थ हो जाते हैं। यह है शेक्सपियर का काव्य ! परन्तु जिस काव्य की ओर वेदमंत्र ने संकेत किया है वह काव्य तो बड़ा अद्‌भुत है। वह हमारी मानवी प्रकृति के अत्यन्त समीप है। उसकी तान तो हमारे अन्तरात्मा में भी सुनाई देती है। इसलिये इस काव्य को तो कोई छोड़ ही नहीं सकता। जैसे ईश्वर सृष्टि के कण-कण में ओत-प्रोत है उसी प्रकार यह काव्य भी ओत-प्रोत है। इसी काव्य की प्रेरणा से सिंहनी अपने बच्चे को दूध पिलाती है। इसीं काव्य के प्रभाव से मधु-मक्खी मधु इकट्ठा करने में आनन्द लेती है। इसी काव्य का प्रदर्शन आप चकोर के चन्द्रदर्शन और पपीहा की पी-ही में पाते हैं। ऋषियों को समाधि में इसी काव्य से आनन्द मिलता है। इस काव्य के राग से समस्त संसार रंजित है।

एक और प्रकार से देखिये। प्रभु का काव्य प्रभु की व्यवस्या का विधान है। इसविधान का आधिपत्य समस्त सृष्टि पर हैं। पत्तों का वृक्षों पर हिलना, पृथ्वी की हर वस्तु को अपने केन्द्र की ओर खींचने का व्यापार, आकाशमार्ग में तारागण की घुड़दौड़ यह सब

प्रभु का काव्य है। इसकी जकड़ में समस्त संसार है। यह इतना हमारे समीप है कि हम इसको छोड़ नहीं सकते। मनुष्य वस्त्रों को उतारकर फेंक सकता है। परन्तु त्वचा को उतार नहीं सकता। त्वचा का शरीर से घनिष्ट सम्बन्ध है। ईश्वर का और सृष्टि का इतना सान्निध्य है कि हम ईश्वर को छोड़ नहीं सकते। बहुत से नास्तिकों ने यह इच्छा की कि ईश्वर के नाम को संसार से मिटा दें। सुना है कि जब रूस में ईश्वर-विरोधी आन्दोलन आरंभ हुआ तो रूस के एक नगर में एक अर्थी निकाली गई। लोग पूछते थे—"कौन मर गया? किसका जनाजा है?' अर्थी वाले उत्तर देते थे—"खुदा का। खुदा मर गया। अब हम इसको कब्र में दफनाने जा रहे हैं।" परन्तु आज आप देखिये। परमात्मा के प्रभावशाली काव्य का गौरव बढ़ रहा है। घट नहीं रहा। कभी-कभी मनुष्य अपने दुःखों से तंग आकर कह बैठता है कि यदि ईश्वर होता तो हमको इतना दुःख न देता! परन्तु यह उनकी अदूरदर्शिता है। वह नहीं जानते कि ईश्वर की व्यवस्था का अनुभव करना ही सुख का मूल है।

फिर यदि ईश्वर का काव्य हमारे इतने समीप है तो हम इस को देख क्यों नहीं सकते? वेदमंत्र उत्तर देता है कि अत्यन्त निकट होना ही न दीख पड़ने का हेतु है विद्यमान होनेपर भी यदि कोई चीज़ दिखाई न दे तो इसके नीचे लिखे,कारणों में से कोई एक या अनेक कारण होंगे:—

(१) अति निकट होना जैसे आँख का सुरमा (२) अति दूर होना जहां आंख न पहुँच सके। (३) बहुत बड़ा होना (४) अति सूक्ष्म होना जैसे काष्ठ के भीतर आग (५)व्यवधान या बीच में परदा होना, जैसे दीवार की दूसरी ओर की चीज़ (६) आंख में विकार होना या मन का चंचल होना।

वेदमंत्र कहता है कि 'अन्तिसन्तं न पश्यति।' ईश्वर इतना निकट है कि जीव उसको देख नहीं सकता।

परन्तु यदि ऐसा ही है तो यह क्यों कहा कि 'देवस्यपश्यकाव्यम्'

प्रभु के काव्य को देखो। जिस को देख नहीं सकते उसको कैसे देखें। केन-उपनिषद् में इस कठिनाई को आचार्य ने अनुभव करके कहा है—"न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग् गच्छति, नोम नो, न विद्मो, न विजानीमो यथा एतद् अनुशिष्याद् अन्यद् एवतद् विदिताद् अथो अविदिताद् अधि। इति शुश्रुम पूर्वोषां ये नः तद् व्याचचक्षिरे।" (केन उप० १-३)

आंख वहाँ तक नहीं पहुँच सकती, न वाणी, मन। न हम जानते हैं। हमारी समझ में नहीं आता कि शिष्य को कैसे उपदेश दें वह ज्ञात वस्तु से भी परे है और अज्ञात से भी हम अपने पूर्वजों से ऐसा ही सुनते चले आ रहे हैं।

परन्तु हम हर एक चीज़ को आंख से देखने का ही क्यों यत्न करें। आँख का क्षेत्र संकुचित है, इसी प्रकार कान आदि का। सत्य वही तो नहीं है जो केवल इन सीमित इन्द्रियों से दीख सकता हो। उपनिषद् कहती है कि "श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो हवाचं स उप्राणस्य प्राण : चक्षुषः चक्षुः अति मुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्ली-का दमृता भवन्ति।" (केन उप० १·२)

अर्थात् जो कान का कान, मन का मन, वाणी का वाणी, प्राण का प्राण, और आँख की आँख है। वह तो आत्मा से ही जाना जाएगा। यह इन्द्रियां तो मरती भी हैं और जीर्ण भी होती हैं। प्रभु का काव्य तो न मरता है न जीर्ण होता है। वह ऐसी आँख है जो असंख्य आँखों को निरन्तर देखने की शक्ति प्रदान करती है। कठोपनिषद् में कहा है—

पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयंभूः तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमक्षदा वृत्त चक्षुरमृतत्व-मिच्छन्" (कठ उ० २-१-१)। अर्थात् इन्द्रियों का मुख बाहर की ओर है। वह अपने भीतर निहित शक्ति को नहीं जान सकती। जो धीर पुरुष इन्द्रियों में व्याप्त आत्मा को देखते हैं वही अमरत्वको प्राप्त होते हैं। अमर काव्य को समझ कर ही अमरत्व की प्राप्ति होगी।

३२ दुर्गरा दूर करो !

विश्वानि देव सवितर्दु रितानि परा सुव ।
यद्भद्रं, तन्न ग्रासुव ।। (यजुदेद ३०।३)

अन्वय : हे देव सवितः विश्वानि दुरितानि परा सुव ।
यद् भद्रं (स्यात्) नः ग्रासुव ।।

अर्थ . हे प्रेरक प्रभो ! सब बुराईयों को दूर कीजिए ।
जो कल्याणकारक वस्तु हो वह हमारे लिए दिलाइए ।

व्याख्या—यह ऋषि दयानन्द का प्रियतम मन्त्र है । ग्रापने वेद भाष्य के प्रत्येक ग्रध्याय के ग्रारम्भ में ऋषि ने इसी मन्त्र से ईश्वर से सहायता के लिए प्रार्थना की है ग्रौर प्रत्येक मतमतान्तर का मानने वाला मनुष्य इस मन्त्र से बिना संकोच के प्रार्थना कर सकता है । इस प्रकार की प्रार्थना सब प्रकार की साम्प्रदायिकताग्रों से मुक्त है । सभी 'दुरित' से बचना चाहते हैं ग्रौर 'भद्र' को ग्रहण करना चाहते हैं ।

इस मन्त्र में तीन विशेष शब्द हैं जिनके ग्रर्थ विचारणीय हैं । एक :सविता', दूसरा 'दुरित' ग्रौर तीसरा 'भद्र' । प्रार्थना का ग्रर्थ हैं प्र+ग्रर्थना । 'प्र' का ग्रर्थ है 'प्रकर्षेण' तेजी से, विशेष उत्कण्ठा से ग्रर्थना ग्रा ग्रर्थ है माँगना । प्रार्थी उसी वस्तु को उत्कण्ठा से मांगता है जिसका मूल्य उसको ज्ञात होता है ग्रौर जिसको पा जाना उसकी शक्ति के भीतर है । भूखा भिखारी रोटी माँगता है । ग्रमेरिका के राज के प्रधानता नहीं चाहता । ग्रज्ञात या ग्रप्राप्य वस्तु की कल्पना हो सकती है । कभी-कभी इच्छा भी । परन्तु इसको प्रार्थना नहीं कह सकते । प्रार्थना के लिए ग्रान्तरिक उत्कण्ठा या विह्वलता

अवश्यक है। उसके लिए यह जानने की आवश्यकता है कि वह क्या वस्तु है जिसकी हमको माँग है ? बच्चा भूख से व्याकुल होकर चिल्लाता है। यह उसकी सबसे सच्ची प्रार्थना होती है। '**अर्थ**' बिना समझे '**प्रार्थना**' करना अपने को धोखा देना है। जिस वस्तु को तुम जानते ही नहीं उसको प्राप्त करने की इच्छा ही कैसे हो सकती है और यदि वह वस्तु प्राप्त भी हो जाय तो उससे तुमको क्या लाभ हो सकता है। संसार में लोग 'मोक्ष' या 'स्वर्ग' के लिए सबसे अधिक प्रार्थना करते हैं। वह नहीं जानते कि मोक्ष क्या वस्तु है या स्वर्ग कैसा और कहां है। इसलिए ऐसी अज्ञात प्रार्थनायें मोक्ष के स्थान में बंध और स्वर्ग के स्थान में नरक की प्राप्ति कराती हैं। इस लिए प्रार्थी को 'दुरित' और 'भद्र' के अर्थों को जानना चाहिए।

दुरित = दुः + इतः। " इण् गत" से 'क्त' प्रत्यय करके 'इत' बना। 'इत' में 'दुः' लगा देने से 'दुरित' बना। सायण ने 'दुरितम' का अर्थ किया है। 'अज्ञानात् निष्पन्न' (देखो ऋग्वेद भाष्य १-२३-२२) और 'दुरितानि' का 'पापानि' (देखो ऋग्वेद भाष्य २-२७-५)। आप्टे ने 'दुरित' का अर्थ किया है Difficult (कठिन), Sinful (पाप), A bad course (बुरा मार्ग)। धातु और प्रत्यय पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि मार्ग में जो कुछ बाधायें उपस्थित हैं वह सब '**दुरित**' है। आप कहीं पर पहुँचने के लिए कोई मार्ग खोजते हैं। यदि मार्ग अच्छा है तो यात्रा सुगम होती है। यदि मार्गमें काँटे हों तो यह 'दुरित' है। यदि ईंट-कंकड़ के रोड़े हों तो यह दुरित है। यदि खावड़-खूबड़ हो तो यह दुरित है। यदि झाड़-झंखाड़ हो तो यह दुरित है। यदि बीच में नदी नाला आ जाय तो यह दुरित है। यदि आपके पैरों में थकावट आ जाय तो और आपको यात्रा के बीच में ही बैठ जाना पड़े तो यह दुरित है। यदि मार्ग में डाकू मिल जायें तो वह दुरित है। सारांश यह है कि आपकी जीवन यात्रा में जो बाधायें पड़ती हैं

वह सब 'दुरित' हैं। मंजिल एक है, मार्ग भी एक है। परन्तु बाधायें अर्थात् 'दुरित' बहुत से हैं। आपकी जीवन यात्रा आपके जन्म से आरम्भ आरम्भ होती है; आरम्भ से ही 'दुरित' भी आ उपस्थित होते हैं। शैशव काल के अनेक रोग (Juvenile diseases) आपके मार्ग को रोकते हैं। यह 'दुरित' है बड़े होने पर जिस कार्य में आप हाथ डालते हैं। उसी में कोई न कोई वस्तु बाधक हो जाती है। कभी आपकी अविद्या, कभी आपका प्रमाद, कभी आपका लोभ, कभी किसी बाहरी शक्ति का विरोध। यह सभी तो 'दुरित' हैं, और इनमें यदि एक छोटा सा भी दुरित शेष रह गया तो आपकी जीवन–यात्रा असम्भव हो सकती है। आपका समस्त शरीर सुदृढ़ और रोगरहित हो, केवल पैर की सबसे छोटी उँगली के एक किनारे पर सरसों के बराबर फोड़ा हो जाय; आप देखेंगे कि आपका सारा काम ठप्प हो जायेगा। यदि आप राजा हैं और आपने अपने किले की दीवारें बहुत चौड़ी और मजबूत बनाई हैं जिनका तोड़ना किसी शत्रु की शक्ति से बाहर है और यदि आप आपके किले के कई मील के सुदृढ़ घेरे में एक स्थान पर एक हाथ की लम्बाई में एक कमजोर जगह टूट गई तो उस हाथ भर जगह में होकर ही शत्रु का प्रवेश हो सकता है और आपका साम्राज्य एक क्षण में अस्तव्यस्त हो सकता है इसीलिए वेद में 'दुरितानि' के साथ 'विश्वानि' विशेषण लगाया गया। आप जब भगवान से 'दुरितों' के दूर करने की प्रार्थना करते हैं तो 'विश्वानि' पर विशेष बल है।

"यद् भद्रं"—जो भद्र या कल्याणकारक होवे! भद्र क्या है? 'दूरितों का दूर करना ही भद्र है। महामुनि गोतम ने न्यायदर्शन में दो सूत्रों द्वारा इस रहस्य को समझाया है। "बाधना लक्षणार्थ दुःखम्"। "तदत्यन्तविमोक्षो अपवर्गः" (न्यायदर्शन, १।१।२१।२२)। अर्थात् रुकावट ही दुःख है। दुःख ही को 'दुरित' कहते हैं। (दुः+ख

=दुःख, दुः+इत=दुरिय। 'ख' नाम 'इन्द्रिय' का भी है और 'आकाश' का भी। आकाश में ही गति सम्भव है। इन्द्रियाँ आकाश में ही गतिवती हो सकती हैं। जिन वस्तुओं द्वारा इन्द्रियों की नैसर्गिक प्रगति में रुकावट होती है वही दुःख है। वही दुरित है, उससे 'अत्यन्तविमोक्ष' का नाम अपवर्ग है। अर्थात् कोई रुकावट शेष न रह जाय। रुकावटों के निःशेष होने पर जो स्थिति होगी वही 'भद्र' है। उसी की प्राप्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना की गई है।

इस मन्त्र में ईश्वर को 'देव सवितः' कहकर पुकारा गया है। 'सविता' (सवितृ) शब्द के अर्थों पर विशेष विचार करना है। सविता' का सम्बन्ध 'परासुव' और 'आसुव' दोनों से है। क्योंकि यह तीनों शब्द एक ही धातु 'षू' के सूचक हैं। 'सविता' का अर्थ है 'प्रसविता' अर्थात् प्रेरक। मोनियर विलियम्स ने अपने बृहद् संस्कृत कोष में 'सव' का अर्थ दिया है "One who sets in motion, impels, an instigator, a stimulator." सविता का अर्थ दिया है—a stimulator, rouser vivifier, हमने यह अंग्रेजी अर्थ इसलिए दिए हैं कि साधारण हिन्दी भाषा में हम सब प्रसव, सविता, प्रसविता के मुख्य धात्वर्थ की उपेक्षा कर जाते हैं। ऋग्वेद के पाँचवें मण्डल के ८२ वें सूक्त में ९ मन्त्र हैं। उन सबका देवता 'सविता' है। और हर मन्त्र में सविता के साथ 'षू' धातु के किसी न किसी रूप का प्रयोग हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि 'सविता' और उसके सम्बन्धी 'परासुव' और 'आसुव' विशेष अर्थों के सूचक हैं।

परमात्मा के जितने नाम वेदों में अथवा अन्यत्र गिनाए गए हैं उन सबका सम्बन्ध प्राणिवर्ग से है। 'नाम' होता ही इसलिए है कि नाम लेने वाला 'नामों' के साथ अपना सम्बन्ध निर्धारित कर सके। जिसका किसी के साथ सम्बन्ध नहीं उसके नाम वा संज्ञा की आवश्यकता नहीं। 'संज्ञायते अनया' संजानते अनया वा' सा 'संज्ञा'

जिसके द्वारा ज्ञान हो सके वह संज्ञा है। ज्ञान के लिए ज्ञाता या चेतन जीव की आवश्यकता है। जीव और ईश्वर के सम्बन्ध अनन्त हैं। महाभाष्य में मुनिवर पतंजलि ने लिखा है "एकशतं षष्ठ्यर्थाः" (१।१।४८) अर्थात् सम्बन्ध तो सैकड़ों होते हैं। विशेष अवस्था में विशेष सम्बन्ध को बताने की आवश्यता होती है। परमात्मा 'सविता', 'प्रसविता' या प्रेरक है, इसका क्या अर्थ है ?

संकुचित अर्थ में 'सविता' सूर्य को भी कहते हैं। सूर्य भी प्रसविता या प्रेरक है। रात के व्यतीत होने पर सूर्य की किरणें जब वस्तुओं पर पड़ती हैं तो हर पदार्थ के भीतर एक प्रकार की प्रेरणा या जागृति उत्पन्न हो जाती है। सूर्य किसी नई चीज का उत्पादन नहीं करता। पदार्थों में जो शक्तियां निहित थीं वही जाग उठती हैं, नया जीवन आ जाता है। अंग्रेजी के शब्द stimulator या vivifier आन्तरिक भावों को ठीक-ठीक व्यक्त करते हैं। कोई मनुष्य प्रातः काल अपने जीवन में सूर्य के प्रकाश से आई हुई इस जागृति का अनुभव कर सकता है। अन्य प्राणधारी या वनस्पति आदि जड़ पदार्थ भी इस बात के द्योतक हैं। सूर्य किरणें यदि गुलाब पर न पड़तीं तो गुलाब न खिलता। सूर्य की किरणें गुलाब नहीं हैं सूर्य का और गुलाब का कारण-कार्य का सम्बन्ध नहीं। सूर्य से गुलाब नहीं बना। न गुलाब बिगड़ कर सूर्य में विलीन हो जाएगा। परन्तु गुलाब की आन्तरिक बीजरूप अविकसित शक्तियों को विकास करने को उद्यत करने में सूर्य की किरणें प्रेरक हैं। उनके द्वारा भीतर से कुछ ऐसा परिवर्तन होता है कि गुलाब के समस्त अन्तर्निहित गुण व्यक्त हो जाते हैं। दूसरा दृष्टान्त आप विद्युत् का ले सकते हैं। विद्युत्-तरंग को भी सविता या प्रेरक कह सकते हैं। एक ही विद्युत् कोष से भिन्न-भिन्न यन्त्रों का सम्बन्ध होता है। तरंग खुलते ही भिन्न-भिन्न यंत्रों को प्रेरणा मिलती है। वह प्रगतिशील हो जाते हैं। आटे की चक्की आटा पीसने लगती है। लकड़ी काटने की मशीन लकड़ी काटने लगती है। छापेखाने की मशीन छापने लगती है।

मशीनें अलग-अलग हैं परन्तु प्रेरणा सबको उसी विद्युत्-तरंग से मिलती है।

इन लौकिक उदाहरणों की आन्तरिक भावनाओं पर विचार कीजिए और फिर उनको इस मंत्रमें प्रयुक्त 'सविता' शब्द पर घटाइए।

परमात्मा किसी प्राणी को बलात् आज्ञा नहीं देता कि तुम ऐसा करो। तुम ऐसा मत करो। प्रायः धार्मिक क्षेत्रों में ऐसी धारणा है कि ईश्वर जो चाहता है प्राणियों से कराता है। परमात्मा जिसको चाहता है ठीक मार्ग पर लगाता है, जिसको चाहता है गुमराह कर देता है। यदि ईश्वर इसी प्रकार अपनी आज्ञाओं को बलात् जीवों पर थोपता तो जीवों की प्रार्थना व्यर्थ नहीं जाती किसका सामर्थ्य था कि वह ईश्वर के आदेशों को टाल सके। किसीने कहा है कि—

जाको प्रभु दारुण दुःख देहीं। वाको मति पहले हर लेहीं।

कुरान में बार-बार दुहराया गया है कि अल्लाह जिसको चाहता है ठीक मार्ग पर लगाता है और जिसको चाहता है गुमराह करता है। यदि परमात्मा की इच्छा ही है कि संसार में 'दुरित' रहें तो दुरितों को दूर करने और उनके स्थान में 'भद्र' प्राप्त कराने का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु परमात्मा के लिए इस प्रकार की भावना वैदिक भावना नहीं है। परमात्मा न किसी को बनाता है, न उसको किसी विशेष कार्य के लिए मजबूर करता है। सूर्य की किरण जब मिर्च के बीच पर पड़ती हैं और साथ ही साथ उसके पास ही बोए हुए गाजर के बीज पर पड़ती हैं तो उनकी प्रेरणा तो दोनों के लिए होती है। परन्तु मिर्च का बीज मिर्च बनाता है और गाजर का गाजर। एक में कड़वापन, दूसरे में मीठापन! किरणें न कड़वापन उत्पन्न करती हैं न मीठा! प्रेरणा उनको मिलती है।

जिस प्रकार सूर्य की किरणें पदार्थों को जागृति देती हैं उसी प्रकार आस्तिक्य की भावना भी प्रत्येक प्राणी के भीतर जागृति उत्पन्न कर देती है। वही स्फूर्ति 'दुरितों' के निराकरण के लिए शक्ति प्रदान करती है। रोग के कीटाणु स्वस्थ शरीर पर भी

आक्रमण करते हैं और रुग्ण शरीर पर भी। परन्तु स्वस्थ शरीर स्वस्थता की सहायता से आक्रमण करने वाले कीटाणुओं को नष्ट कर देता है, जैसे पत्थर पर पड़ी हुई जलती हुई दियासलाई। बुझ जाती है, पत्थर ज्यों का त्यों रह जाता है। वही दियासलाई फूंस के ढेर पर पड़ कर भड़क उठती है। एक अस्वस्थ शरीर विशूचिका के कीटाणु को लेकर न केवल स्वयं ही मृत्यु का ग्रास बनता है अपितु अन्य शरीरों को भी अपने साथ नष्ट कर देता है। आस्तिक मनुष्य और आस्तिक्यहीन मनुष्य के आत्मा में यही भेद है। दुरित तो अपने आक्रमण सभी पर करते हैं, परन्तु जो प्रार्थी दुरितों की प्रकृति को समझता हुआ परमात्मा की प्रेरणा से अपने को सुसज्जित पाता है उसके 'दुरित' शीघ्र पराजित हो जाते हैं। सबल सोते हुए भी प्रभाव-शून्य हो जाते हैं। उनकी प्रगति कुंठित हो जाती है।

जो मनुष्य परमात्मा के सवितृ-भाव को न समझकर परमात्मा से वस्तुविशेष की मांग करते हैं उनकी प्रार्थना निष्फल जाती है। परमात्मा मुफ़्त में किसी को सदावर्त या ख़ैरात नहीं बांटता। प्रायः धनाढ्य लोग ख़ैरात में बहुत से भिखारियों को मुफ्त भोजन देते हैं। इससे दानियों को ख्याति तो प्राप्त हो जाती है, भिखारियों के सामर्थ्य में कोई भेद नहीं पड़ता। यदि वह धनाढ्य ख़ैरात न बांटकर केवल प्रेरणा करें तो यही भिखारी थोड़े दिनों में अपने पैरों पर खड़े हो सकते हैं और दूसरों को प्रेरणा करने के योग्य बन सकते हैं। वैदिक विधि से 'सविता' के प्रेरकत्व को समझता हुआ 'प्रार्थी भिखारी नहीं है। वह मुफ़्त कोई चीज़ नहीं मांगता। वह ईश्वर के प्रेरकत्व पर विश्वास करके 'दुरितों' को दूर करने का सामर्थ्य चाहता है। दुरितों का दूर करना ही 'भद्र' की प्राप्ति है। रोग का पराभव ही शक्ति का संचार है। ज्यों २ पाप की भावना कम होतीं हैं। कल्याण की भावना उत्पन्न हो जाती है।

३३ यज्ञ की प्रेरणा

ओ३म् देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय
दिव्यो गंधर्वः केत-पू केतं नः पुनातु ।। वाचस्पतिर्वाचं नःस्वदतु
यजु० ३०-१

"परमेश्वर सबको सत्यकर्म करने की तथा सत्यकर्म का संरक्षण करने की बुद्धि देवे ; अपने ज्ञान से पवित्रता करने वाला ज्ञानी हम सबके ज्ञान को पवित्र करे। तथा उत्तम वक्ता हम सबके वाणी को मधुर बनावे। जिससे हम सबकी उन्नति हो सके ।।"

यह आशय इस मंत्रका है। उन्नति चाहने वाले मनुष्यों के अन्दर जिन-जिन गुणों का विकास होने की आवश्यकता है, उन गुणों का उल्लेख उक्त मंत्र में है। (१) सत्यकर्म की प्रेरणा, (२) सत्कर्म का संरक्षण, (३) ज्ञान से पवित्रता और (४) वाणी का माधुर्य; ये चार सद्गुण हैं कि जिनसे मनुष्यों में संघशक्ति का तेज प्रकाशने लगता है। इस आशय को ध्यान में रखकर अब इस मंत्र का विचार करेंगे :—

"देव सवितः ।"

'सविता देव' परमेश्वर का नाम है। देखिए:—

सविता वै देवानां प्रसविता'

शत, १।१।२।१७।।

सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, अग्नि, वायु आदि सब देवों का उत्पन्नकर्ता परमेश्वर है। उसकी प्रार्थना इन दो शब्दों से की है। सब देवों की उत्पत्ति सविता करता है, इस विषय में निम्न मंत्र देखने योग्य है :—

युक्त्वाय सविता दवान् त्स्वयतो धिया दिवम् ।
बृहज्ज्योतिःकरिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥

यजु० ११।३

"सविता देव (तान्) उन देवों को (प्रसुवाति) उत्पन्न करता है, कि जो (बृहत् ज्योतिः) बड़ा तेज फैलाते हैं। उन देवों को (सविता) सबका उत्पादक ईश्वर (युक्त्वाय) अपने अपने कर्मों में नियुक्त करता है।"

'सविता देव' सूर्यादि सब तेजस्वी पदार्थों को उत्पन्न करके उनको अपने अपने मार्ग से भ्रमण आदि कर्म में लगा देता है। पृथ्वी का कर्म अन्न उत्पन्न करना, सूर्य का कर्म प्रकाश देना, वायु का कर्म जीवन शक्ति देना है। इन कर्मों में परमेश्वर की शक्ति से ये सब देव नियुक्त हुए हैं। इस मंत्र को देखने से 'सविता' शब्द का अर्थ 'परमेश्वर' ही है स्पष्ट प्रतीत होता है। सविता का वर्णन तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी है :—

सविता प्रसविता दीप्तो दीपयन् दीप्यमानः ।

तैत्ति० ब्रा० ३।१०।१।२।

'सविता सबका उत्पादक है। वह स्वयं तेजस्वी है, और सबको प्रकाशित करता है।' इत्यादि प्रकार का वर्णन देखने से निश्चय होता है, कि 'सविता' का मूल अर्थ 'परमेश्वर' है, पश्चात् इस शब्द का 'सूर्य' ऐसा अर्थ हुआ।

'सु' धातु से सविता' शब्द बनता है 'प्रसव, ऐश्वर्य, प्रेरणा ये तीन अर्थ इस धातु के हैं। (१) उत्पन्न करना, (२) प्रभुत्व करना, और (३) प्रेरणा करना, ये तीन भाव 'सविता शब्दों में हैं। सबको धर्म की प्रेरणा करने वाला परमेश्वर ही सविता है।

प्रसुव यज्ञम्

'यज्ञ की प्रेरणा करो यह इस मंत्र की पहली प्रार्थना है।

प्रशस्ततम कर्म अर्थात् अत्यन्त उच्च कर्म का नाम यज्ञ है। यजु. अ. १;१ में कहा है कि, **'देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्या यध्वम्।'** हे लोको! आप सबको परमेश्वर अत्यन्त उच्च कर्मों के लिये प्रेरणा करे। आप सब उच्च कर्मों को करते हुए उन्नत हूजिये ॥ यह उपदेश यजुर्वेद के प्रारम्भ में ही है। सब यजुर्वेद में 'श्रेष्ठतम कर्म का ही अधिकार चलता है। यजुर्वेद का अर्थ 'श्रेष्ठतम-कर्मका, शास्त्र (Science of holy action) ऐसा है। इसलिये संपूर्ण यजुर्वेद में 'यज्ञ अथवा कर्म' का अर्थ 'श्रेष्ठतम कर्म' ऐसा ही है। 'श्रेष्ठतम कर्मकी प्रेरणा करो' यह उपदेश उक्त वाक्यसे मिलता है। प्रत्येक मनुष्य में अत्यंत श्रेष्ठ कर्म करनेकी महत्वाकांक्षा चाहिए और प्रत्येक मनुष्यको उचित है कि वह अत्यत श्रेष्ठ कर्म करनेके लिये अन्योंको प्रेरणा देता रहे। सर्वत्र उत्साहकी प्रेरणा होनी चाहिए। वैदिक धर्महि 'उत्साह का धर्म' है। इसलिये प्रारंभसे अंत तक अत्यन्त श्रेष्ठ कर्म करनेका उत्साह वैदिक धर्ममें दिया गया है।

उद्यम, साहस, धैर्य बल, बुद्धि और पराक्रम ये आठ गुण वैदिक धर्म के आधार हैं; उत्साह, स्फूर्ति और प्रेरणा ये तीन गुण इस वैदिक धर्मका जीवन है, (१)सत्कर्म करनेमें किसी भी प्रतिबन्धकी पर्वाह न करना, (सत्कर्म करनेके कार्यमें आने वाले सब आपत्तियोंको आनन्दसे सहन करना (३)सत्कर्म करनेके लिये अपने आपको योग्य बनानेके कारण आंतर और बाह्य इंद्रियोंको अपने आधीन रखना, (४) किसी समय और किसी कारण भी चोरीका भाव न धरना, (५) सब कालमें, सब अवस्थामें सब प्रकारकी पवित्रता रखना (६) सदा सर्वदा आत्मिक बलको धारण करना, (७) सदा सर्वदा अपनी बुद्धिका तेज ज्ञान से बढ़ाना, (८) सदा सर्वदा सत्यके ऊपर दृढ रहना, (९) कभी क्रोध न करना क्योंकि क्रोधसे अपनाही नुकसान हुआ करता है, इसलिये सब प्रकारकी अवस्थामें मन बुद्धि और आत्माको शांत रखना, (१०) सदा परमेश्वरकी महानता पर विश्वास रखना, ये दस गुण हैं कि जिनसे मनुष्य वैदिक धर्मका पालन कर सकता है।

दुर्बल, उत्साह-हीन, धैर्य हीन, निबुद्धि, निस्तेज, पराक्रम- हीन, वीर्यहीन, दैव वादी जो लोग होते हैं वेही लोग पापी होते हैं। वैदिक धर्ममें दैववाद के लिये स्थान नहीं। यह पुरुषार्थ का धर्म है। उत्तम पुरुषार्थ करने के लिये कभी डरना नहीं चाहिए। अपने बल पर निर्भर रहने का भाव सदा सर्वदा धारण करना चाहिए ; पुरुषार्थ करने की प्रबल प्रेरणा, इस मंत्र ने दी है। इसी भाव को प्रकाशित करने के लिये जैमिनी मुनि कहते हैं:—

अथातो धर्मजिज्ञासा ॥१॥
चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ॥२॥

पूर्वमीमांसा ॥१॥

"अब धम का विचार करते हैं। जिससे श्रेष्ठ पुरुषार्थ करने की प्रेरणा होती है, वह ही धर्म है।" यह सब भाव मनमें धर कर उक्त वाक्य '**प्रसुव यज्ञ**' देखना चाहिए। सत्कर्म की प्रेरणा करने के विषय में निम्न मंत्र देखिए।

प्रेरय सूरो अर्थं न पारं ये अस्य कामं जनिमा
इव ग्मन् ॥ गिरश्च ये ते तुविजात पूर्वीर्नर इन्द्र
प्रतिशिक्षन्त्यन्नैः ॥

ऋ. १०।२९।५ ॥

"(जनिमा इव) जन्म देने वाली स्त्रियां जिस प्रकार अपने पुत्रों को प्रेरणा देती हैं,, तथा (सूरः न) विद्वान् जिस प्रकार अपने शिष्यों को प्रेरणा देते हैं, उस प्रकार (पारं) आपत्ति के पार होने के लिए और (अर्थं) पुरुषार्थ करने के लिए उन लोकों को (प्रेरय) प्रेरणा करो, कि (ये) जो लोक (**अस्य** कामं) इस ईश्वर की इच्छा के अनु-सार (गमन्) चलते हैं अर्थात् आचरण करते हैं। है (तुविजात नर इन्द्र) बलवान, अग्रणी प्रभू ! (ये) जो लोक (अन्नैः) अन्नों के द्वारा लोकों को साहाट्य करते हैं तथा जो (ते पूर्वीः गिरः) तेरा पूर्ण अथवा प्राचीन उपदेश हर एक को (प्रति शिक्षन्ति) सिखाते हैं।" उनको प्रेरणा करे।

(१) परमेश्वर का संदेशा दूसरों तक पहुँचाने वाले, (२) अन्न के द्वारा दूसरों की सहायता करने वाले, और (३) परमेश्वर की आज्ञा के अनुसार अपना आचरण करने वाले जो होते हैं; उनको कष्टों से पार होने के लिए तथा अधिकाधिक पुरुषार्थ करने के लिए परमेश्वर से प्रेरणा होती है। यह आशय उक्त मंत्र का है। परमेश्वर की प्रेरणा अपने अंतः करण में धारण करने के लिए कौन पुरुष योग्य है इसका उपदेश इस मंत्र से मिलता है। मनुष्यों को भी उचित है कि, वह स्वयं सत्कर्म में प्रेरित होकर दूसरों को भी उच्च कर्मों के लिए सदा सर्वदा उत्साहित करता रहे।

"प्रसुव यज्ञ-पतिं भगाय।"

'(भगाय) ऐश्वर्य के लिए यज्ञ के पालन-कर्ता को प्रेरणा करो।' यह इच्छा इस मंत्र भाग में व्यक्त हुई है। यहाँ 'भग' शब्द का अर्थ देखना है। भग—Prosperity उन्नति, अभ्युदय; dignity महानता, महत्व; distinction विशेषता; glory यश, प्रताप; Beauty सुन्दरता; excellence उत्तमता, उत्कृष्टता; love प्रीति; virtue सद्गुण; morality नीतिधर्म; exertion प्रयत्न, पुरुषार्थ; indifference to woridly pleasure वैराग्य, निस्पृहता; freedom स्वातंत्र्य, मुक्ति; strength बल; desire इच्छाशक्ति। 'भग' शब्द के इतने अर्थ हैं, इन गुणों की प्राप्ति के लिए सत्कर्म के पालनकर्ता को प्रेरणा करो; अर्थात् सत्कर्मोंका संरक्षण करके, इन गुणों का धारण, पालन और पोषण करना चाहिए। 'पति' का अर्थ 'पालक' है पश्चात् उसका 'स्वामी' अर्थ हुआ है।

सत्कर्म की प्रेरणा और सत्कर्म का संरक्षण ये उन्नति के दो साधन हैं। स्वयं सत्कर्म करना, स्वयं अच्छा पुरुषार्थ, अच्छा उद्योग करना और दूसरों को वैसा करने के लिए प्रेरणा करना, तथा जो उत्तम कार्य कर रहे होंगे, उसका पालन और संवर्धन करना चाहिए। जिससे सत्कर्म का प्रवाह सतत चलता रहेगा और अप्रतिबद्ध

उन्नति हो सकेगी। और देखीए :—

मह उग्राय तवसे सुवृक्ति प्रेरय शिवतमाय० :।

ऋ. ८।९६।१०

"(शिवतमाय) उत्तम कल्याण के लिए, (तवसे) बल के लिए, (उग्राय) क्षात्र तेज के लिए तथा (महे) महत्व के लिए (सु-वृक्ति) शुद्ध कर्म की (प्रेरय) प्रेरणा करो। शुद्ध कर्म किस कार्य के लिए करने चाहिएँ, इसका उपदेश इस मत्र में हुआ है। सत्कर्म से उन्नति होती है, ऐसा निम्न मंत्र में कहा है :—

यज्ञ इन्द्रमवर्धयद्भूमिं व्यवर्तयत्।।
चक्राण औपशंदिवि।।

ऋ. ८।१।५ अथर्व. २०।२७।५।।

"यज्ञने इन्द्र को बढ़ाया, जिसने भूमि को बारंबार घुमाया और जिससे द्युलोक में वह भूषणरूप बनाया गया।" अर्थात् जो इन्द्र का प्रभुत्व है, वह अर्थात् 'सत्कार-संगति-दानात्मक' सत्कर्म के कारणही है। जो पूजनीयों का सत्कार, श्रेष्ठों से संगति और दीनों को दान करेगा अर्थात् इस प्रकार के सत्कर्म करेगा, वह इन्द्रत्व अर्थात् प्रभुत्व प्राप्त करेगा! श्रेष्ठत्व प्राप्ति के लिए-संगति-दानात्मक सत्कर्म करने चाहिएं।

तथा :—

स्वर्यन्तो नाऽपेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी।।
यज्ञ ये विश्वतो-धारं सुविद्वांसो वितेनिरे।।

अथर्व ४।१४।४।।

"(ये) जो (सु-विद्वाँसः) उत्तमविद्वान् (विश्वतो-धारं यज्ञं) सब प्रकार से धारण-पोषण करने वाले सत्कर्मों को (वि-तेनिरे) विशेष प्रकार से फैलाते हैं, (रोदसी द्यां रोहन्ति) दोनों लोकों में से ऊपर होते हुए स्वर्ग पर चढ़ते हैं, और (स्वः यन्तः) अपने तेज को फैलाते क्षन्ते) किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा नहीं करते।"

'यज्ञ' का अर्थ—सत्कार (honour) 'संगति union. association') दान (charity) इस प्रकार है। 'न अपेक्षन्ते' का अर्थ—वे किसी की अपेक्षा नहीं करते, They do not wait for any body for help, They do not require any body's help, They do not stand in need of......) यह सत्कर्म का फल है। तथा :—

यज्ञं तपः ॥ तैत्ति० आ० १०।८।१॥

"यज्ञ एक प्रकार का तप ही है।" अथवा तप से ही यज्ञ होता है। सत्कर्म करने के समय होने वाले कष्टों को सहना ही 'तप' है। जो लोग इन्द्रियों के सुखों के लिए ही कार्य करते हैं, उनसे सत्कर्म नहीं हो सकता। सत्कर्म करने के लिए स्वार्थी इन्द्रिय-सुखों की लालसा कम करनी पड़ती है। इस प्रकार अपना सुख कम करके दूसरों का सुख बढ़ाने के लिए जो प्रयत्न होते हैं, वे यज्ञरूप होते हैं।

इस प्रकार के यज्ञ जो करते हैं, और जो सत्कर्मों का संवर्धन करते हैं वे "यज्ञ-पति" कहलाते हैं। संघशक्ति बढ़ाने में इस प्रकार के पवित्र कर्म करने वालों की बहुत आवश्यकता होती है। इस लिए ऐसे सज्जनों को उचित है, कि वे स्वयं सत्कर्म करते हुए, वैसे सत्कर्म करने के लिए दूसरों को भी प्रेरित करते रहें।

"दिव्यो गन्धर्वः केत-पूः केतं नः पुनातु।"

'गां वाचं धारयतीति गं-धर्वः ॥' महीधर भाष्य यजु० ११।७॥ उत्तम वाणी का धारण करने वाला जो उत्तम वक्ता होता है, उसका नाम 'गं-धर्व' होता है। उत्तम गायकों को भाषा में गंधर्व कहते हैं। इस प्रकार जो दिव्यगुणयुक्त वक्ता होता है, वह अपने ज्ञान से हम सबके ज्ञान को पवित्र करे। यह इच्छा इस मंत्र में है। ज्ञानी के ज्ञान द्वारा साधारण मनुष्यों के ज्ञान पवित्र होते हैं! श्रेष्ठों द्वारा निकृष्टों का उद्धार होना है। गुरु अथवा अध्यापकों द्वारा शिष्यों की बुद्धि

पवित्र होती है। वृद्धों द्वारा जवानों को उन्नति होती है।

ब्रह्मणे ब्राह्मणं, क्षत्राय राजन्यम् ।

यजु. अ. ३०।५॥

'ज्ञान के लिए ज्ञानी को, शौर्य के लिए क्षत्रिय को प्राप्त करो।' जो ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं वे ज्ञान के पास चले जावें, तथा जो शौर्य प्राप्त करना चाहते हैं वे शूरों के पास जावें। श्रेष्ठ पुरुषों के पास श्रेष्ठ गुणों की प्राप्ति करनी चाहिए। यही उन्नति का मार्ग है।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत ॥

कठ उप० ३।१४

"उठो, जागो, और श्रेष्ठों को प्राप्त करके बोध प्राप्त करो" श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुषों के पास जाकर श्रेष्ठ गुणों को प्राप्त करके उन गुणों का अपने अन्दर धारण पोषण और संवर्धन करना चाहिए। और जब वे श्रेष्ठगुण अपने अन्दर बढ़ जायेंगे; तब दूसरों को श्रेष्ठ बनाने के लिए, अपने सुख दुःखकी पर्वाह न करते हुए, अहर्निश प्रयत्न करना चाहिए।

'केत' शब्दमें 'कित्' धातु है, जिसका अर्थ–To know जानना; to think सोचना, विचार करना; to care दुःख दूर करना, दुरुस्त करना, अच्छा करना; to heal आराम पहुँचाना; to live जीना; to desire इच्छा करना है। इस कारण 'केत' शब्दका यौगिक अर्थ 'ज्ञान' विचार, चिकित्सा, दुरुस्ती, भलाई, जीवनशक्ति, इच्छाशक्ति, इतरा है। स्वयं अपने अन्दर इन गुणोंकी स्थापना करके, दूसरोंकी इनके धारण करनेके लिए उत्साहित करना चाहिए। देखिए। स्वयं ज्ञानी बनकर दूसरोंको ज्ञानी बनाना। स्वयं सुविचार करके दूसरोंको सुविचार-शील बनाना, स्वयं दूसरों के दुःख दूर करके से कार्यों में दूसरों को लगाना, स्वयं दूसरोंका भला करके दूसरों की भलाई करनेके लिए उत्साहित करना, स्वयं अपना जीवन

पवित्र करके दूसरोंका जीवन पवित्र करना, स्वयं अपनी इच्छा-शक्तिका बल बढ़ाकर दूसरोंकी इच्छाशक्ति (Will power) बढाने-का प्रयत्न करना। यह भाव उक्त मंत्र में है

"वाचस्पतिः वाचं नः स्वदतु।"

"वाणीका स्वामी हम सबकी वाचाको मीठी बनावे।" जो वाचाका उपयोग अच्छी प्रकार कर सकता है उसको वाचाका स्वामी कहते हैं। सरस्वती अर्थात् विद्या विद्वानकी दासी बनकर उसकी सेवा करती है; ऐसा कवि लोग वर्णन करते हैं। जिनकी वाणी मीठी होती है, परन्तु जिनका उपदेश परिणाममें हितकारक होता है, वे विद्वान् उपदेश करके हम सबकी वाणी मीठी बनावें। धर्मके उपदेशक ऐसे ही मधुरभाषी होने चाहिए।

वाणीमें मिठास न होनेसे लड़ाई, झगड़े, फिसाद, तथा द्वेष होते हैं। इसलिए वाणीमें मिठास रखनेका उपदेश किया है। "स्वदतु" का अर्थ 'स्वादयतु' अर्थात् 'स्वाद उत्पन्न करे,' मधुर बनावे, मीठी बनावे' ऐसा है। वाचस्पतिका कार्य अथर्ववेदके प्रथम सूक्तमें दिया है;—

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि विभ्रतः ॥
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥१॥
पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह ॥
वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥२॥
इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नी इव ज्यया ॥
वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥३॥
उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान्वाचस्पतिर्ह्वयताम् ॥
सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि ॥४॥

अथर्व १।१॥

"(१) जो त्रि-गुणित सात तत्व जगत के सब रूपों को बनाते हैं, (२) मेरे शरीर आज, वाचाके स्वामीकी कृपासे उन तत्वोंके बलोंको धारण करे ॥ (३) हे वाणीके स्वामी ! दिव्य गुणयुक्त मन के साथ तुम फिर हमारे पास आओ॥ (४) मैंने जो कुछ ज्ञान सुना है, वह मेरे अन्दर सदा रहे ॥ (५) जिस प्रकार धनुष्यकी डोरीसे धनुष्यके दोनों नोक तने रहते हैं, उस प्रकार यहाँ मेरे दोनों शरीर ज्ञानकी डोरीसे बंधे हुए रहें । वाचाके पतिकी कृपा से सुना हुआ ज्ञान मेरे अंदर दृढ रहे ॥ (६) वाणीके पतिका हम सब वर्णन करते हैं वह भी हम सबकी सहायता करे । (७) उसकी सहायताद्वारा (श्रुतेन) श्रेष्ठ ज्ञानसे (सं गमेमहि) हम सब युक्त होवें । (८) कोई मनुष्य ज्ञान के साथ विरोध न करे ।"

उत्तम वक्ता के कर्तव्य इन मंत्रोंमें अच्छी प्रकार कहे हैं ।(१) जगत् के तत्वोंका ज्ञान प्राप्त करना, (२) शरीरका बल वृद्धिगत करना, (३) मन को दिव्य गुणोंसे युक्त करना, (४) ज्ञान की जागृति सदा रखनी, (५) शरीर और मनका सम्बन्ध दृढ़ रखना, (६) विद्वान और अविद्वान दोनोंने एक दूसरेकी सहायता करना, (७) सदा सर्वदा ज्ञान प्राप्त करते रहना, (८) ज्ञान का कभी विरोध न करना। ये उपदेश हैं कि, जो ज्ञानीको तथा साधारण मनुष्योंको भी सदा ध्यान में रखने चाहिएँ । और देखिए:—

वाचस्पतिस्त्वा पुनातु ॥ मैत्रायणी सं० १।२।१

"वाणीका स्वामी तुझे पवित्र करे।" जनताको पवित्र करना, लोकोंके अंतःकरणोंको शुद्ध, निर्मल, सतेज, और उत्साही बनाना उत्तम वक्ताका ही कार्य है।

वाचस्पते सौमनसं मनश्च गो-ष्ठे नो गा जनय ॥

अथर्व. १३।१।१९

"हे वाणीके स्वामी ! हमारे अन्दर उत्तम मननशक्तिके साथ मन, तथा (गाः) उत्तम इन्द्रिय, हम सबके इन्द्रिय स्थान में स्थिर

करो।" लोकोंका मन सुसंस्कृत करना उत्तम वक्ताका कार्य है, उत्तम लेखक का भी यही कार्य समझा जा सकता है। वाणी की शक्ति बड़ी भारी है; इसलिए उसका अच्छाही उपयोग करना चाहिए; देखिए:—

वाचा देवता: ।। काठक सं० ३५।१५।।

वाचा ब्रह्म ।। तै. सं० ७।३।१४।१।।

"वाचा बड़ी देवता है।" "वाक्शक्ति साक्षात् ब्रह्म है।" इतनी बड़ी शक्ति मनुष्योंके पास ईश्वरकी कृपासे प्राप्त हुई है। परन्तु शोक है कि उस वाक्शक्तिका कितना दुरुपयोग लोग कर रहे हैं, और झगड़े खड़े करके अपनाही नाश कर रहे हैं ! ! इसलिए सब लोगों को उचित है, कि बोलने तथा लिखनेके समय सोचकर मधुरताके साथही शब्दोंका प्रयोग किया करें, जिससे आपस में मित्रता बढ़ेगी और आपस का शत्रुत्व हट जायगा। वाणी की मधुरताके विषय में अथर्व वेद कहता है:—

जिह्वया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधुलकम् ।।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ।।२ ।।
मधुमन्मे निष्क्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः ।। ।।अथर्व ।१।३४।।

"(१) मेरी जिह्वाके अग्रभाग में माधुर्य है। (२) मेरी जिह्वाके मूलमें मधुरता है। (३) इसलिए यहाँ (मम क्रतौ) मेरे सत्कार्यमें आओ। और मेरे चित्तके साथ मिलो ।। (४) मेरा चालचलन मीठा है (५) मेरा व्यवहार मीठा है। (६) मैं वाणीसे मीठा भाषण करता हूं (७) जिससे मैं मधुरताकी मूर्ति बनूंगा।"

अपनी वाणी, अपना कर्म, अपना चालचलन, अपना सब व्यवहार माधुर्यके साथ करने चाहिएँ। माधुर्यकी मूर्ति बनकर समाजके अन्दर ऐक्यकी शक्ति उत्पन्न करनी चाहिए। प्रत्येक मनुष्योंको उचित है कि वह अपने शब्द, अपने कर्म, और अपने व्यवहारकी जाँच इन मंत्रोंमें कहे हुए उपदेशके अनुसार प्रतिसमय करें और मंत्रमें कहा हुआ आदर्श मधुर-पुरुष बननेका प्रयत्न दृढ़ इच्छापूर्वक करे।

३४ ईश्वर के तेज का ध्यान

ओ३म् तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्यधीमहि धियो योनः प्रचोदयात्ः।
यजु० ३२०-२

"परमेश्वरके उस श्रेष्ठ तेज का हम सब ध्यान करते हैं कि जो हम सबकी बुद्धियोंको प्रेरणा करता है।"

परमेश्वरमें सब श्रेष्ठ सदगुणोंकी पराकाष्ठा है। शक्ति, बल, तेज, आनन्द, पवित्रता आदि सब श्रेष्ठ सद्गुण उसमें अपरिमित हैं। प्रत्येक सद्गुण की परमावधिकी कल्पना ही परमेश्वरकी कल्पना है। इसलिए उनका ध्यान अथवा उसकी उपासना करने के समय उसके एक एक सद्गुण के अपरिमित महत्वका चिंतन करना चाहिए। अपरिमित सामर्थ्य, अपरिमित, तेज, अपरिमित पवित्रता, अपरिमित ज्ञान, अपरिमित आनन्द का चिंतन करनेसे परमेश्वर का ध्यान होता है। इस प्रकार सद्गुणों का चिन्तन करना "सगुण उपासना है।

मनुष्य जिसका चिंतन करता है, वैसा बनता है। यदि वह उत्कृष्ट सद्गुणोंका चिंतन करेगा, तब वह उत्कृष्ट सद्गुणों से सुशोभित होगा परन्तु किसी कारण दूसरोंके बुराइयोंका चिंतन करता रहेगा तो वह स्वयं कालांतर के पश्चात् उन बुराइयोंसे युक्त होगा। इसलिए प्रत्येक मनुष्यको अपना ध्यान उत्कृष्ट सद्गुणों में ही स्थिर करनेका अभ्यास करना उचित है।

मनुष्यों के इतिहासका विचार करने के समय भी, किन किन सद्‌गुणोंसे ऐतिहासिक पुरुषोंकी उन्नति हुई थी, इसी का ही विशेष चिंतन करना चाहिए, न कि उनके दुर्गुणोंका। प्रत्येक मनुष्योंमें सद्‌गुण और दुर्गुण न्यूनाधिक प्रमाणसे रहते ही हैं। हम को उचित है कि उनके सद्‌गुणोंकी ओर हम देखें और उनके दुर्गुणोंका चिंतन न करें। दस मनुष्योंके चरित्रोंसे दस सद्‌गुण ग्रहण किये जांय, तो अपने पास दस सदगुण बढ़ सकते हैं,। परन्तु उन दस पुरुषोंके चरित्रों से हम दस दुर्गुणही लेवें, तो हम दस दुर्गुणोंसे दुष्ट बन सकते हैं। इसलिये '**सदा सर्वदा अपने मन को सद्‌गुणोंके मनन में ही लगाना**' चाहिए।

यन्मनसा मनुते तद्वाचा वदति।
यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति॥
यत्कर्मणा करोति तदभि संपद्यते॥

"जिस प्रकार मनसे विचार होता है उस प्रकार वाणीसे उच्चार होता है जिस प्रकार वाणीसे उच्चार होता है उस प्रकार आचार बनता है; जिस प्रकार आचार बनता है, वैसा मनुष्य बन जाता है।" यह सबको ध्यान में धरना चाहिए, और विचार उच्चार, आचारकी पवित्रता करनी चाहिए। इसी हेतु से कहा है कि संघशक्ति बनानेवालोंको परमेश्वरेके **प्रकोष्ठ तेजकाहि ध्यान** करना चाहिए। श्रेष्ठ गुणोंका चिंतन करनेसे उच्च मार्ग पर चलने की प्रेरणा होती है। अस्तु इसी गुरुमंत्रके समान एक मंत्र है, उसका यहाँ विचार करना उचित है:—

तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम्।
श्रेष्ठं सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि॥१॥
अस्य हि स्वयशस्तरं सवितुः कच्चन प्रियम्॥
न मिनन्ति स्वराज्यम्॥२॥

ऋ. ५।८२।

"(१) (सवितुः देवस्य) उत्पादक ईश्वरके (तत् भोजनं)◉ उस पोषणका (वृणीमहे) हम सब स्वीकार करते हैं, (२) तथा (भगस्य) भगवान के श्रेष्ठ तथा (सर्व-धा तमं) सबका धारण करने वाले *(तुर) विजयी शक्ति का हम सब (धीमहि) धारण करते हैं ।। (हि) क्योंकि (अस्य सवितुः) इस उत्पादक ईश्वर के (३) (स्व-यशः-तरं) अपने यश से फैले हुए (४) (प्रियं) प्रीति करने योग्य (स्व-राज्यं) स्वराज्य का (कच्चन न) कोई भी नहीं (मिनन्ति=विनाशयन्ति) नाश कर सकते है ।"

यहाँ "**स्व-राज्य**" का अर्थ 'ईश्वर (आत्मा का शासन' है । परमेश्वर के जो नियम इस सृष्टि में कार्य कर रहे हैं, उनको कोई भी तोड़ नहीं सकता, क्योंकि वह परमेश्वर का 'स्वराज्य' अपने यश से फैला हुआ और सबको प्रीति करने योग्य है । इसलिये "जिस स्व-राज्य पर सबकी प्रीति होती है, और जो अपने यश से फैला हुआ होता है, उस स्वराज्य का नाश कोई भी नहीं कर सकता ।" स्व-राज्य की स्थिरता के लिये चार बातों की आवश्यकता होती है, जो उक्त मंत्र में कही है:—(१) परमेश्वर के दिये हुए भोग्य पदार्थों पर सबका अधिकार, (२) विजयी उत्साह की शक्ति से सबका धारण पोषण और वर्धन, (३) अपने यश से अपना विस्तार तथा (४) सबका प्रेम; ये चार बातें जिस स्वराज्य में होंगी वह स्वराज्य स्थिर और दृढ़ होगा । परन्तु जिस राज्य में (१) उपभोगों के पदार्थों पर सबका सम्मान अधिकार नहीं, (२) सबमें निरुत्साह होगा, (३) अपने यश की जहाँ संभावना न होगी, (४) और जहां सबका परस्पर प्रेम न होगा; वहाँ राज्य की स्थिरता नहीं हो सकती ।

◉१ '**भोजन** शब्दका अर्थ-Food अन्न; nourishment पुष्टी, पोषक रस; enjoyment उपयोग; wealth धन; property धन गुण स्वभाव ।

*२ '**तुर**' शब्द का **अर्थ**—Advancing बढ़ना, promoting उच्च करना; strong, energetio शक्तिशाली; rich धनी, भाग्यवान; abundant विपुल; speed वेग, गति; overcome, conquering विजयशाली ।

तात्पर्य '(१) समान उपभोग, (२) उत्साह शक्ति, (३) स्वकीय-यश की आशा और (४) परस्पर प्रेम, ये चार गुण राज्य स्थिरता हैं अस्तु करने वाले हैं। तथा (१) उपभोगों की विषमता, (२) निरुत्साह (३) अपयश, (४) परस्पर द्वेष, ये दुर्गुण राज्य का नाश करने वाले उक्त मंत्र 'सविता देव के भर्ग' नामक उग्र तेज की धारणा करना ध्वनित किया है। 'भर्ग' नामक तेज परमेश्वर का है, परंतु उस तेज का धारण मनुष्य को करना चाहिए। इस 'भर्ग' के सह-चारी गुणों का भी यहाँ विचार करना उचित है। देखिए:—

३३ वीर्य।

इदं वर्चो अग्निना दत्तमागन् भर्गो यशः सह
ओजो वयो बलम् ।। त्रयस्त्रिंशद् यानि वीर्याणि
तान्यग्निः प्रददातु मे ।।१।। वर्च आ धेहि मे
तन्वां सह ओजो वयो बलम् ।। इन्द्रियाय त्वा
कर्मणे वीर्याय प्रति गृह्णामि शतशारदाय ।।२।।
ऊर्जे त्वा बलाय त्वौज से सहसे त्वा ।। अभि
भूयाय त्वा राष्ट्र भृत्याय पर्यूहामि
शतशारदाय ।।३।।

अथर्व १९। ३७ ।।

(अग्निना) तेजस्वी ईश्वर ने (इदं वर्चः= Vigour) यह सामर्थ्य मुझे दिया है। उसके साथ निम्न गुण (आगन्) आ गये हैं। (भर्गः— radiant purity तेजस्वी पवित्रता, (यशः— glorious honour) सम्मानयुक्त कीर्ति, (सहः— power of endurance) स्थिरता-पूर्वक सहन करने की शक्ति, (ओजः—vitality, virility) जीवन शक्ति, शारीरिक बल, (वयः—healthy life) आरोग्ययुक्त दीर्घ

आयुष्य, (बलं—strength) बल, ये गुण उक्त 'वर्च' साथ प्राप्त हुए हैं जो (त्रयस्त्रिशद् वीर्याणि) तेंतीस वीर्य हैं, परमेश्वर उनको मुझे प्रदान करे॥ मेरे शरीर में सामर्थ्य, सहनशक्ति, बल, वीर्य, आयु स्थिर होवे। इन्द्रिय का कार्य, सत्कर्म वीर्य अर्थात् पराक्रम और (शत-शारदाय) सौ वर्षों की दीर्घ आयु के लिये मैं तेरा स्वीकार करता हूँ॥ (ऊर्जे) तेजस्वी शक्ति के लिये, (बलाय) आत्मिक बल के लिये (अभि-भूयाय) शत्रु का पराजय करने के लिये, (शत-शारदाय) सौ वर्षों की दीर्घ आयु के लिये तथा (राष्ट्र-भृत्याय) राष्ट्र की सेवा करने के लिये मैं तेरा—अर्थात् उपभोग का—स्वीकार करता हूँ॥"

इन मंत्रों में '**वर्च, भर्ग, यश, सह, ओज, दीर्घ-आयु, बल, ऊर्ज, अभिभव अर्थात्** शत्रु का पराभव करने की शक्ति, राष्ट्र-सेवा का भाव ये दस गुण कहे हैं। 'भर्ग' के साथ ये रहते हैं, जिस भर्ग की उपासना गुरुमंत्र ने कही है।

इस मंत्र में ३३ वीर्यों का उल्लेख हुआ है। ३३ देवताओं की ये ३३ शक्तियां हैं अथर्ववेदने इन ३३ वीर्यों की गणना की है:—

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक्चेन्द्रियं च
श्रीश्च धर्मश्च॥ ७॥ ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च
विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च॥८॥
आयश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च
चक्षुश्च श्रोत्रं च॥ ९॥ पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं
चर्तं च सत्यं चेष्टं पूर्तं च प्रजा च पशवश्च॥ १०॥

अथर्व. १२। ५॥

(१ ओजः) शारीरिक बल, (२ तेजः) तेजस्विता, (३ सहः) सहन-शक्ति, (४ बलं) आत्मिक बल, (५ वाक्) वाचाकी शक्ति, (६ इन्द्रियं) इंद्रियों की शक्तियां, (७ श्रीः) शोभा, (८ धर्मः) कर्तव्य-पालन करने का स्वभाव, (९ब्रह्म) ज्ञान, (१० क्षत्रं) शौर्य, (११राष्ट्रं) राष्ट्रशक्ति, (१२ विशः) वैश्यों की व्यापार की शक्ति, (१३त्विषिः

Authority) अधिकारशक्ति, (१४ यशः) सन्मान, (१५ वर्चः) सामर्थ्य (१६ द्रविणं) पैसा, धन, (१७ आयुः) दीर्घ आयु (१८ रूपं) सौन्दर्य, सुन्दरता, (१९ नाम) नाम का अभिमान, (१० कीर्ति) नेकनामी, प्रसिद्धि, (२१ प्राणः) जीवनशक्ति, (२२ अपानः) रोगनिवारक शक्ति, (२३ चक्षुः) सूक्ष्मदृष्टि, (२४ श्रोत्रं proficiency in kuowledge) ज्ञान में प्रवीणता, (२५ पयः vital spirit) वीर्य का बल, (२६ रसः taste, love, feeling, elegance, essence,) रुचि, प्रेम, सहृदयता, हमदर्दी, सौंदर्य, सत्व; (२७ अन्नं अन्नाद्यं च) खान पान, (२८ ऋतु right) न्यायानुकूल यथायोग्य नियमपूर्वक बर्ताव, (२९ सत्यं Truth) सत्यता, (३० इष्टं) अपना हित, (३१ पूर्तं) जनहित, दूसरों का भला करना, (३२ प्रजाः progeny) संतति. (३३ पशवः cattle, un-initiated persons) गाय, बैल, घोड़ा आदि पशु, अथवा अशिक्षित मनुष्य ।।

ये ३३ वीर्य हैं कि, जो 'भर्ग' नामक तेज के साथ रहते हैं । 'भर्ग' की उपासना करने के समय तथा उसका चिंतन करने के समय इन. का भी चिंतन करना चाहिए । क्योंकि इनको छोड़कर मनुष्य के पास 'भर्ग' नहीं आसकता, तथा 'भर्ग' को छोड़ने से ३३ वीर्य नहीं प्राप्त हो सकते ।

प्रत्येक मनुष्य को उचित है कि, वह इन वीर्यों को अपने पास करने का प्रयत्न अहर्निश करे । इनमें कई शक्तियां अपने अन्दर ही बढ़ने वाली हैं तथा कई बाहर से प्राप्त होने वाली हैं । पाठक इनका अधिक विचार करके अपना लाभ कर सकते हैं ।

★

गुण निरन्तर चिन्तत, आत्म निरीक्षण

और सत्कर्मों द्वारा ही हम मनुष्य जीवन का उद्देश्य पूर्ण कर सकते हैं ।

३४ वरुण की नौका

आ यद्रुहाव वरुणश्च नावम्, प्र यत् समुद्रमीरयाव मध्यम् ।
अधि यदपां स्नुभिश्चराव, प्र प्रेंख ईंखया वहै शुभे कम् ।।३।।

ऋ० ७।८८।३

अर्थ—(यत्) जब (वरुणः) सबका वरणीय और सबको बचाने वाला भगवान् (च) और [मैं उपासक] (नावं) एक नौका पर (आरुहाव) दोनों चढ़ जाते हैं (यत्) जब उस नौका को (समुद्रम्) समुद्र के (मध्यं) मध्य में (प्र-ईरयाव) हम छोड़ देते हैं और तब (यत्) जो (अपों) समुद्र के जलों की (स्नुभिः) तरंगों से (अधि चराव) उन पर चढ़ कर हम खेलते हैं, तब, (प्रेंखे) मैं खूब झूलता हूँ (शुभे) संसार के भले के निमित्त (कम्) उसके सुख के लिए (प्रेंखयावहै) तब हम दोनों खूब झूल कर प्रयत्न करते हैं।

यह हमारा मनुष्य जीवन ही एक नौका है। नौका का शाब्दिक अर्थ है एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने वाली नदी और समुद्र में चलने वाली नौका इसीलिए नौका है कि वह हमें एक किनारे से दूसरे किनारे पर ले जाती है। हमारा जीवन भी हमें एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता है। इसलिए वह भी एक नौका ही है। नौका के द्वारा हम अनेक प्रकार की भोग्य वस्तुएँ ढोकर लाते हैं। इस जीवन के द्वारा भी हम अपने आत्माके लिए अनेक प्रकार के सुख दुःख भोग ढोकर लाते हैं। धर्मा-धर्म के संस्कार भी हमारे आत्मा पर इस जीवन-नौका के द्वारा ही ढोकर लादे जाते हैं। किसी भी दृष्टि से देखें हमारा मनुष्य-जीवन हमारे लिए नौका है। यदि जीवन नौका हमें वरणीय भगवान की कृपा से प्राप्त होती है। वरुण भग-

वान की कृपा से हमें मिलने वाली यह नौका वस्तुतः उसी की है। वरुण ने यह नौका हमें संसार-समुद्र तैरने के लिए दी है। यदि हम इससे लाभ न उठायेंगे और इसका दुरुपयोग करेंगे तो वरुण भगवान् अगले जन्म में हमसे यह अपनी नौका छीन भी लेंगे। हमें मनुष्य योनि से हटा देंगे वरुण की दी हुई इस नौका में निरन्तर यात्री हमारा आत्मा चढ़ा हुआ है। जब भगवान् का साक्षात्कार होकर हमारे हृदयमें उनके दर्शन हो जाते हैं। यह जीवन-नौका हमें इस लिए मिली है कि हम इसकी सहायता से संसार समुद्र को तर जाएँ और मोक्ष-सुख के भागी बनें। परमात्मा हमें यों ही मोक्ष-सुख नहीं चखा देते। हमारे द्वारा अपनी योग्यता प्रमाणित कर दी जाने पर ही हमें प्रभु मोक्ष-सुख देते हैं। योग्यता प्रमाणित करने के लिए हमें संसार समुद्र में भेजा जाता है। यदि हम इस समुद्र को अपने शुभ कर्मों की सहायता से तरने में समर्थ हो गए तब तो हम मोक्षसुख के अधिकारी हो जायेंगे और यदि हम यहाँ आकर अशुभ कर्मों में ही लिप्त रहे तो हमें इसी समुद्र में डूबते रहना होगा। मोक्ष-सुख अपने पुरुषार्थ द्वारा संसार-समुद्र को तैर कर जीता जाता है। समुद्र का शाब्दिक अर्थ है जिसकी ओर दौड़कर जाते हैं। समुद्र की ओर सब नदियों के जल दौड़कर जाते हैं इसीलिए उसे समुद्र कहते हैं। समुद्र का एक अर्थ यह भी है कि जिससे दौड़कर जाते हैं। सूर्य की गर्मी से तपकर समुद्र के जल उससे उठकर आकाश में उड़ जाते हैं। यह संसार भी इसी तरह का एक समुद्र है। अज्ञानी जन इसके विषयों की ओर—इसकी लुभावनी चमक-दमक की ओर—अन्धे होकर दौड़े जाते हैं और ज्ञानी जन इससे जितना चाहिये उतना लाभ लेकर अन्त में इससे हटकर मोक्ष-धाम में चले जाते हैं। समुद्र में जैसे तरंगें उठा करती हैं इसी भाँति इस संसार समुद्र में भी तरंगें उठा करती हैं। इसमें मनुष्य के सम्मुख आने वाले भाँति-भाँति के विषय और तरह-तरह की समस्यायें ही तरंगें हैं। जब तक मनुष्य को भगवान के दर्शन नहीं हो जाते और

उनकी पवित्र प्रेरणा में वह चलना नहीं सीखता तब तक उसे इस संसार-समुद्र की तरंगों के खूब थपेड़े खाने पड़ते हैं। वह उनकी बेहोश कर देने वाली मार के नीचे बुरी तरह आता है। उसे नहीं सूझता कि वह अपनी नौका को इस समुद्र के परले पार कैसे ले जावे। पर जब उसकी नौका पर भगवान भी आ बैठते है—जब उसे भगवान् के दर्शन हो जाते हैं—और वह उनकी पवित्र प्रेरणा में अपनी किश्ती चलाने लगता है तब वह इस समुद्र की भयंकर से भयंकर तरंगों से भी नहीं घबराता। वह उनकी मार में नहीं आता वह तो उन पर चढ़कर—उन पर सवार होकर—खेलता और झूलता है। अब वह तरंगों की लपेट में नहीं आ सकता अब तो उसकी नैया पार निकल जाएगी। न केवल उसे अब अपनी नौका के भाग्य और भविष्य के बारे में कोई सन्देह नहीं रह जाता प्रत्युत वह औरों की नौकाओं को भी पार लगाने के काम में लग जाता है—उनके भले और सुख की की बातें सोचने और करने लग जाता है और इस पवित्र कर्म में उसकी नौका पर बैठे हुए भगवान उसकी सहायता और मार्ग-प्रदर्शन करते हैं। वह अपने को अकेला नहीं अनुभव करता। दूसरों की नौकाओं को पार ले जाने के काम में उसे भगवान अपने साथ लगे हुए प्रतीत होते हैं। इसीलिए मन्त्र में 'प्रेंखयावहै' यह द्विवचन की क्रिया प्रयुक्त की गई है। जिस धातु से यह क्रिया-रूप बनता है उस का अर्थ झूलना भी होता है और उत्कृष्ट गति, चेष्टा अर्थात् उत्कृष्ट प्रयत्न करना भी होता है। इसीलिये हमने दोनों भावों को मिलाकर हम 'झूल कर प्रयत्न करते हैं' ऐसा अर्थ कर दिया है। भाव यह है कि जिस व्यक्ति को भगवान का सहारा मिल जाता है वह परोपकार के कामों में भारी से भारी प्रयत्न करता हुआ भी उस प्रयत्न के भार से दबता नहीं। और यदि उसे कभी अपने प्रयत्नों में कुछ समय के लिए सफलता न मिले तो भी उसे निराशा या चिन्ता नहीं दबाती। उसके मन में सदा ऐसी निश्चिन्तता और प्रसन्नता रहती है जैसी एक झूला झूलने वाले के मन में रहा करती है।

ऊपर व्याख्या में हमने मनुष्य जीवन को नौका और भगवान के साक्षात्कार को उस नौका में प्रभु का आ बैठना ऐसा कहा है। प्रभु का साक्षात्कार हो जाना ही नौका है। यह साक्षात्कार हो जाने पर मानो भक्त और भगवान एक ही नौका पर चढ़ बैठते हैं। भगवान के दर्शन से भगवद्दर्शनरूप भगवान को नौका संसार से पार होने के लिए भक्त को मिल जाती है। ऐसी व्याख्या भी हो सकती है। दोनों व्याख्याओं का अन्तिम अर्थ एक ही है।

हे मेरे आत्मा! तू अपनी नौका पर भगवान को बिठाने वाला बन। फिर तेरा कल्याण ही कल्याण है।

३६—उस की महिमा

ओ३म् अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥
यजु० ४०।४।

शब्दार्थ—(अनेजत्)कम्पन रहित (एकं) एक (मनसः)अतिवेगवान (न)नहीं (एनत् इसको (देवाः) चक्षुः आदि इन्द्रिय (आप्नुवन) प्राप्त होते हैं। (पूर्वम्) पहिले। (अर्षत्) पहुँचता हुआ (तत्) वह (धावतः) दौड़ते हुए (अन्यान्) अन्योको (अति+एति) उल्लंघन कर जाता है (तिष्ठति) स्थिर हुआ (तस्मिन्) उसमें (मातरिश्वा) अन्तरिक्ष में प्राणधारण करने वाला (जीव) (आपः) कर्म को (दधाति) धारण करता है

भाषानुवाद।

(ईश्वर केवलमात्र) एक है कम्पन रहित (तथा) मनसे भी तीव्र वेगवाला है। सबसे पूर्व पहुँचे हुए इस (ईश्वर) को चक्षु आदि इन्द्रियाँ नहीं प्राप्त होतीं। वह (अपने स्वरूप में) स्थिर रहते हुये भी अन्य दौड़ने वालों को उल्लंघन कर जाता है उस (ईश्वर) में जीवात्मा कर्मों को धारण करता है।

३७ तीन पाश

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मद् अवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।
अधा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥

अथर्व० ७·८३·६

अर्थ—(आदित्य) सूर्य की भांति प्रकाशमान और विनाशरहित (वरुण) हे वरणीय प्रभो, हमारे (उत्तम) सब से ऊंचे अर्थात् सिर के (पाशं) बन्धन को (उत्-श्रथामं) ऊपर से उतार कर शिथिल कर दीजिये (अधमं) सबसे निचले अर्थात् पैरों के बन्धन को (अव-श्रथाय) शिथिल करके नीचे गिरा दीजिये, और (मध्यम) मध्य भाग के, बन्धन को भी (वि-श्रथाय) वियुक्त करके शिथिल कर दीजिये (अध) आपकी कृपा से हमारे पाशों के शिथिल हो जाने के अनन्तर (वयं) हम लोग (अनागसः) निष्पाप होकर (तव) आपके (व्रते) नियमों से (आदितये) अखण्डित-रूप से उनका पालन करने के लिये (स्याम) रहें।

हमें दुःख में बांधने वाले हमारे पाप-पाश तीन प्रकार के हैं। उत्तम, मध्यम और अधम। हमारे शरीर में सब से ऊँचा स्थान सिर का है। हमारी सारी ज्ञान-शक्ति का केन्द्र सिर ही है। हमारे मस्तक में जो पाप संकल्प उठते रहते हैं, वहाँ जोपाप के विचार उठते रहते हैं, वे उत्तम कोटि के पाश हैं। क्योंकि ये पाप-विचार ही हमारे सब प्रकार के पापों के मूल कारण होते हैं। हमारे शरीर के मध्य भाग में पेट और

जननेन्द्रिय हैं। पेट लोभलालच का प्रतिनिधि है और जननेन्द्रिय विषयासक्ति का। हम लोभ-लालच और विषयासक्ति में फँस कर जो पाप करते हैं वे सब मध्य कोटि के पाप हैं। हमारे शरीर का अधम—सबसे निचला—भाग पैर हैं। पैर ज्ञान-हीनता का प्रतिनिधि है। हमारे अनेक पाप हमारी ज्ञान-हीनता के कारण होते हैं। अज्ञान के कारण हम जो पाप करते हैं वे सब "पैर" के पाप हैं—अधम पाप हैं।

पाशों के उत्तम, मध्यम और अधम विभाग की व्याख्या एक और प्रकार से भी हो सकती है। भगवान् की इस सृष्टि के आधिदैविक; आध्यात्मिक और आधिभौतिक ये तीन भेद किये जाते हैं। इन तीनों प्रकार की सृष्टियों के अपने पृथक्-पृथक् नियम हैं। इन नियमों के भंग करने से पाप उत्पन्नहोता है जो कि दुःख में फँसने का कारण होता है। आधिदैविक जगत् के नियमों के भंग रूप पाप को हम उत्तम पाश कह सकते हैं, आध्यात्मिक जगत् के नियमों के भंग रूप पाप को मध्यम और अधिभौतिक जगत के नियमोंके भंग रूप पाप को अधम पाश कह सकते हैं। इस विभाग की उत्तम-मध्यमाधमता कल्पित वस्तु है। परमात्मा को, देवाधिदेव होने से आधिदैविक विभाग में गिनने पर इस विभाग को उत्तम कहा जा सकता है, आध्यात्मिक विभाग को मध्यम और आधिभौतिक विभाग को अधम कहा जा सकता है। परमात्मा को, आत्मा होने के कारण, आध्यात्मिक विभाग में गिनने पर इस विभाग को उत्तम कहा जा सकता है, आधिदैविक विभाग को मध्यम और आधिभौतिक विभाग को अधम कहा जा सकता है।

एक और प्रकार से भी पाशों की उत्तममध्यमाधमता, की कल्पना की जा सकती है। सारा जगत् प्रकृति के सत्त्व, रज और रज

तम नामक गुणों या अंशों के विभिन्न योगों से बनता है। हमारे शरीर में भी इन तीनों गुणों का मिश्रण है और हमारे विचारों के साधन मस्तक में भी इन तीनों गुणों का मिश्रण है। शरीर की सात्त्विक, राजस और तामस ये तीन अवस्थायें समय-समय पर होती रहती हैं। इसी प्रकार हमारे मन में भी सात्त्विक, राजस और तामस वृत्तियें उठती रहती हैं। सत्त्व को उत्तम, रज को मध्यम और तम को अधम समझा जाता है। जब हमारा आत्मा शरीर और मस्तक की इन तीनों प्रकार की वृत्तियों से पुण्य के कार्य करता है तब तो ये पाश नहीं बनती हैं। पर जब हम इन वृत्तियों की सहायता से पाप के कर्म करते हैं तब ये वृत्तियाँ पाश बन जाती हैं—बन्धन हो जाती हैं। क्योंकि तब ये हमें दुःख में बांधने का कारण होती हैं।

उत्तम, मध्यम और अधम तीनों प्रकार के पाप-पाशों को काटने में हमें भगवान् से सहायता लेनी है। उनकी संगति में जाकर हमने उनकी कृपा से शक्ति प्राप्त करके इन तीनों प्रकार के बन्धनों को तोड़ना है—तीनों प्रकार के पापों से अलग होना है। और इस प्रकार अनागस्—निष्पाप—होकर भगवान्‌के निर्धारित व्रतों—नियमों=को अखण्डित रूप में पालन करते रहने की अवस्था में पहुँचना है। यह हमें सांसारिक दुःखों से मुक्ति दिलवाकर अन्त में मुक्ति की—ब्रह्मसाक्षात्कार की=आनन्दमय अवस्था में ले जाती है।

हे मेरे आत्मा! तू अपने तीनों प्रकार के बन्धनों को तुड़वाने के लिये भगवान् की संगति में कब जायेगा?

वेद कहता है—

वाचं वदत भद्रया।

ऋ० ३।३०३

सदा कल्याण कारिणी वाणी बोलो

३८ सत्य उपासना

ईशे ह्यग्निरमृतस्य भूरेः; ईशे रायः सुवीर्यस्य दातोः।
मा त्वा वयं सहसावन्नवीरा माप्सवः परिषदाम मा दुवः॥

ऋक् ७४.६॥

हे अग्ने ! हम तुम्हारी बहुत सी विफल उपासना करते हैं। तुम तो सर्वशक्तिमान् हो, हमें सब कुछ दे सकते हो। हमें प्रभूत अमृत विविध प्रकार का आध्यात्मिक ऐश्वर्य प्रदान करने में समर्थ हो, परन्तु हम ही हैं कि तुम्हारी आराधना करने के अयोग्य हैं। अतएव तुम सर्वदाता से भी हम कुछ प्राप्त नहीं कर सकते। हम कितने मूर्ख हैं कि निर्वीय होकर, विकारयुक्त होकर और सेवा रहित होकर तुम्हारा भजन करना चाहते हैं। भला बुजदिल कायर लोग, हे सहसावन् ! तुम्हारी क्या उपासना कर सकते हैं ? हम विकार युक्त मलिन हृदय वाले तुम्हारी क्या उपासना करेंगे ? हम सेवा रहित स्वार्थी पुरुष तुम्हारी उपासना से क्या लाभ प्राप्त करेंगे ? अतः हम ने आज से निश्चय किया है कि अब हम वीर्य हीन विकृत और असेवक होकर कभी तुम्हारी उपासना में नहीं बैठेंगे। हम सब कमजोरियों को हटा कर निर्भय वीर होकर तुम्हारे सच्चे उपासक बनेंगे, सब काम क्रोधादि मलिनताओं को दूर करके शुद्ध स्वरूप बनकर तुम्हारी आराधना करने बैठेंगे और रात-दिन निरन्तर सेवा कार्य करते हुए ही हम प्रातः सायं तुम्हारा भजन किया करेंगे।

सचमुच तभी हम तुम्हारे पास बैठने के योग्य होंगे, तुम्हारी उपासना द्वारा तुम से अमृतत्व आदि आध्यात्मिक ऐश्वर्यों को, वीरता आदि सद्‌गुणों को तथा अन्य भौतिक ऐश्वर्यों को भी प्राप्त कर सकेंगे ।

शब्दार्थ

(अग्निः) परमेश्वर (हि) निश्चय से (भूरेः) बहुत प्रकार के (अमृतस्य) अमरपन के, आध्यात्मिक ऐश्वर्य के (दातोः) देने में (ईशे) समर्थ है और (सुवीर्यस्य) सुन्दर वीरता सहित (राय) धन के भौतिक ऐश्वर्य के देने में (ईशे) समर्थ है। परन्तु (सहसावन्) हे सर्वशक्तिमन्! बलवन्! (वय) हम त्वा तुमको (अवीराः) वीरता रहित कार्य होकर (मा) मत (परिसदाम) उपासना करें (अप्सवः) कुरूप, विकृत होकर (मा) मत उपासना करें, और (अदुवः) असेवक होकर (मा) मत उपासना करें ।

वेद कहता है—

ऋषिर्हि पूर्वजा अस्येक ईशान ओजसा ।

ऋ० ८।६।४१

पदार्थ—(ऋषि) द्रष्टा (हि) निश्चय से (पूर्वऽजाः) पहला (असि) है (एकः) अकेला ईशानः (स्वामी) (ओजसा) बल से ।

हे परमात्मन् तू निश्चय सबका द्रष्टा और सबसे पहला (सनातन) है। अपने बल से सारे संसार का एक ही स्वामी है ।

Thou art All-knowing and Eternal sole Ruler over all by night.

३९ मेरी इच्छा

न त्वा रासीयाभिशस्तये वसो न पापत्वाय सन्त्य ।
न मे स्तोता अमतीवा न दूर्हितः स्यान्न पापया ।।

ऋ. ८,१९,२६।।

हे जगत को बसाने वाले ! वसो ! मैं कभी तुमसे दूसरों के विनाश के लिए प्रार्थना न करूँ, और हे सन्त्य ! संभजनीय ! मैं कभी दूसरों के प्रति किसी अन्य पाप के लिए भी तुम्हारा संभजनी न करूं मैं तुम्हें कभी इस लिए हविः प्रदान न करूं कि उससे किसी दूसरे की हिंसा हो या कोई अन्य पाप हो। हे बसने वाले ! तुमसे विनाश की प्रार्थना करना, हे सन्त्य ! तुमसे पाप की चाहना करना, यह कितनी उलटी बात है ! परन्तु हम अज्ञानी लोग मोहवश बहुत बार तुमसे ऐसी प्रार्थनायें भी करते हैं। हम तो मारण उच्चाटन अभि-चरण तक में तुमसे सफलता चाहा करते हैं। परन्तु शायद इसी लिए हम संसार में ठगे जाते हैं। हमें ऐसे स्तोता या प्रशंसक मिलते हैं जो कि अन्दर से हमारा अनिष्ट चाहते हैं पर ऊपर से स्तुति करते हैं। हे अग्ने ! मैं तो चाहता हूं कि मेरी स्तुति कभी कोई मूर्ख पुरुष न करे, मेरे लिए दुर्भाव और अहित रखने वाला कभी मेरा स्तोता व प्रशंसक न बने, पाप-बुद्धि वाला कभी मेरी खुशामद न करे। मैं कैसा हूँ इसकी बड़ी अच्छी पहचान यह है कि मेरे प्रशंसक कैसे हैं ? अतः मैं जहां, यह चाहता हूँ कि नासमझ और दुर्हृदय

पुरुषोंकी स्तुति मुझे कभी प्राप्त न होवे वहाँ मैं आपसे वह बल और ज्ञान प्रकाश भी पाना चाहता हूँ जिससे मैं तुमसे कभी हिंसा व पाप की प्रार्थना न कर सकूँ। हे प्रभो ! मैं तुमसे पवित्र ही प्रार्थना करूँ और मुझे मनुष्यों की पवित्र ही स्तुति प्राप्त हो।

शब्दार्थ

(वसो) हे जगत् के बसाने वाले ! मैं (अभिशस्तये) हिंसन के लिए (त्व न रासीय) कभी तेरी स्तुति प्रार्थना न करूँ, कभी हवि-प्रदान न करूँ और (सन्त्य) हे संभजनीय ! (पापत्वाय) पापयुक्तता के लिए मैं तेरी कभी प्रार्थना न करूँ, हविप्रदान न करूँ,। और और (अग्ने ! (मे स्तोता) मेरा प्रशंसक कभी (अमतीवा) निर्बुद्धि मूर्ख पुरुष (न स्यात्) न होवे, (दुर्हितः) दुष्कामना रखने वाला पुरुष (न) न होवे और (पापया) पाप बुद्धि से [युक्त पुरुष भी] (न) न होवे।

—:o:—

वेद कहता है

श्रद्धया सत्यमाप्यते।

यजु० १९-३०

पदार्थ—(श्रद्धया) श्रद्धा से (सत्यानुष्ठान से) सत्य स्वरूप परमात्मा मिलता है।

By follo wing the true course, is the true Lord attained.

४० स्वराज्य

स्वादोरित्था विषूवतो मध्वः पिबन्ति गौर्यः ।
या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभसे वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥

ऋ० १.८४. १०॥ सा० पू० ५.१.३.१॥
सा० उ० ३.२.१५। अथर्व० २०.१०९.१॥

स्वराज्य में ही प्रजाओं को असली सुख मिलता है। स्वराज्य में ही प्रजायें अपना अधिक से अधिक विकास कर सकती हैं। जब अन्दर स्वराज्य स्थापित हो जाता है, जब इस शरीर राज्य की बागडोर इन्द्र (आत्मा) के अपने हाथों में आ जाती है तब गौरियों इन्द्रिय आदि इन्द्र-प्रजाओं को जो अलौकिक दिव्यसुख मिलता है, उनकी जो अद्‌भुत शोभा, दीप्ति बढ़ती है उसका हम साधारण लोग इस समय अनुमान भी नहीं कर सकते। क्योंकि हमारे अन्दर या तो आत्मिक अराजकता फैली हुई है या किसी असुर का विदेशी शासन चल रहा है, स्वराज्य नहीं है। इस लिए हमारे अन्दर ये गौरियाँ इस समय विषयरूपी-मदिरा का ही पान कर रही हैं। और इस नशीले आत्म घातक सुख' को ही सुख समझ रही हैं। इन्हें उस दिव्य सोमरस के पान का सुख अभी कैसे मिल सकता है जो आत्म-राज्य हुए बिना नसीब नहीं होता ? हाँ, जहाँ कहीं यह वृषा आत्मा फिर अपने 'स्व' राज्य को संभाल लेता है वहाँ की अवस्था बिलकुल पलट जाती है। वहाँ ये इन्द्रियां स्वराज्य के अनुकूल चलने वाली

संयमयुक्त हो जाती हैं। ये वसुरूप, स्वराज्य की संपत्तिरूप या स्वराज्य की सच्ची वासिनी हो जाती हैं। ये अपनी प्रदीप्ति के लिए बलवान् इन्द्र के साथ चलने वाली हो जाती हैं। इन्द्र के साहचर्य से सचमुच इनकी शोभा, दीप्ति अकल्पनीय प्रकार से बढ़ जाती है। प्रातिभ श्रावण वेदन आदि सिद्धियों तथा नाना अन्य अद्भुत शक्तियों के रूप में ये अत्यन्त शोभित और प्रदीप्त हो जाती हैं। उस समय ये गौरियाँ स्वाधीनता को पाकर इन्द्र के साथ में अत्यन्त आनन्द को प्राप्त करती हैं। तभी उन्हें उस 'मधु' का, उस मोक्षसुख का, उस सोम का पान प्राप्त होता है जो स्वादु है, ब्रह्मानन्द के रस से रसीला है, दिव्य माधुर्य से भरा है और जो व्यापक है, सब के लिए समान है, भौतिक सुख की तरह एक देशी और सापेक्ष नहीं है, अतएव विषय-मदिरा की तरह नशीला भी नहीं है। यही सच्चा सोम रस का पान है जिसे आत्मवश्य इन्द्रियाँ प्राप्त करती हैं। यही असली भोग है, 'शुद्ध भोग' है, अविद्या आदि क्लेश मलों से सर्वथा रहित निर्मल भोग है, जिसको मुक्तावस्था में आत्म शक्तिरूप गौरियाँ उपयोग करती हैं। ओह! हम बद्ध पुरुष तो कल्पना भी नहीं कर सकते कि 'शुद्ध भोग' भी कोई वस्तु हो सकती है, 'व्यापक मधु' भी कोई वस्तु हो सकती है।

शब्दार्थ

वे (गौर्यः) प्रकाश मान इन्द्रियाँ या आत्म शक्तियाँ (इत्था) इस प्रकार के (स्वादोः) स्वादु, ब्रह्मानन्द रस से रसीले (विषूवतः) व्यापक (मध्वः) सोम रस का, शुद्ध भोग का, मोक्ष सुख का (पिबन्ति) पान करती हैं (याः) जो स्वराज्य अनु) स्वराज्य का अनुसरण करने वाली होकर (वस्वीः) वसुरूप या वासनी होकर और (शोभ से अपनी शोभा व दीप्ति के लिए (वृष्णा) बलवान् (इन्द्रेण) आत्मा से (सयावरीः) साथ मिलकर चलने वाली होकर (मदन्ती) आनन्दयुक्त होती हैं।

—:०:—

४१ हे इन्द्र!

मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो ।
सकृत् सु नो मघवन्निन्द्र मृडयाधा पितेव नो भव ।।

ऋक्० १०.३३.३ ।।

मैं तेरा स्तोता हूं, तेरा सन्ध्या वन्दन करने वाला हूँ तेरा हवन पूजन करने वाला हूँ। तो भी, हे शतक्रतो ! मुझे ये 'आंधियाँ', ये मानसिक पीड़ायें खाये जा रही हैं। जैसे पान चढ़ाये गए, आटे से स्नान कराए गए सूत को चूहे काटने लगते हैं, सब ओर से चिपटकर खाने लगते हैं, उसी तरह ये मानसिक पीड़ायें मुझे नाना तरह से सता रही हैं, खाये जा रही हैं। अपूर्ण रहती हुई ये मेरी अनगिनत कामनायें मुझे चाट रही हैं, काम, क्रोध, लोभ मुझ में उछल रहे हैं, रागद्वेष मुझे पीड़ित कर रहे हैं, नाना मोह मुझे दबा रहे हैं, भयंकर भय मुझे व्यथित कर रहे हैं, मद-मत्सर मुझे मार रहे हैं, विविध चिन्तायें मुझे जला रही हैं, इस प्रकार अनगिनत आंधियाँ मुझ पर सब तरफ से चढ़ रही हैं, पल पल में व्याकुल कर रही हैं। हे प्रभो ! मैं कब तक इनका भक्ष्य बना रहूँगा ? कब तक इस तरह बेचैन बना रहूँगा ? इनसे मेरी कौन रक्षा करेगा ? तेरे स्तोता की और कौन रक्षा करेगा ? हे मघवन ! तुम्हीं मुझे अब एक बार अच्छी तरह सुखी कर दो, इन आँधियों को हटा कर, इन मूषकों को भगाकर मुझे सुखी कर दो और पिता की तरह मेरे पालक हो जाओ। तेरे सिवाय इस दुनियां में मेरा रक्षक कौन है ? मेरा पिता कौन है ?

इसलिए हे इन्द्र तुम्ही मुझ स्तोता के पिता होश्रो, रक्षक होश्रो। पिता की तरह तुम मुझे अब ऊपर अपनी गोद में उठा लेश्रो, मुझे अपनी उस शांत, निरुपद्रव, सुरक्षित शरण में उठा लेश्रो जहाँ कभी इन आंधियों की पहुँच नहीं है, जहाँ कभी मूषकों की गति नहीं है

—शब्दार्थ—

(शतक्रतो) हे बहुत कर्म वाले ! (ते) तेरे (स्तोतारं) स्तोता होते होते हुए भी (मा) मुझको (श्राध्यः) मानसिक पीड़ायें (वि श्रदन्ति) विविध प्रकार से खा रही हैं (मूषो न) जैसे चूहे (शिश्ना) श्राटे से स्नान कराए गए, पान किए हुए सूतको खाते हैं। (मघवन्) हे ऐश्वर्य वाले ! (इन्द्र) हे इन्द्र तू (नः) हमें (सकृन्) एक बार (सु) अच्छी तरह (मृडय) सुखी कर दे, (श्रघ) श्रौर (नः) हमारा (पिता इव) पिता की तरह रक्षक (भव) होजा।

वेद कहता है

'प्राणो ह सत्यवादिन मुत्तमे लोक आदधत्'

अ० ११।६।११

पदार्थ—(प्राणः) परमेश्वर (ह) निश्चय से (सत्यवादिनम्) सत्य वादी को (उत्तम-लोके) उत्तम लोक में (श्रादधत्) स्थापना करता है।

The Lord places a truthful man in the highest life.

४२ महिमा अपरम्पार

अभ्यूर्णोति यन्नग्नं भिषक्ति विश्वं यत् तुरम्।
प्रेमन्धः ख्यत्, निः श्रोणो भूत ॥

ऋ० ८।७६.२॥

उस परमदेव की महिमा के स्तुति गीत मैं कहाँ तक गाऊं ? उस परम दयालु की दयालुता का वर्णन करनें के लिए मैं वाणी कहां से लाऊँ ? वे सोमप्रभु तो इस दुर्बल दुनियाँ पर जो प्रतिक्षण अनन्तों उपकार कर रहे हैं, इस दुःखी संसार पर जो हर समय अपनी करुणा बरसा रहे हैं उसका जब मैं ध्यान करता हूँ तो मेरा हृदय भर आता है, मेरा कण्ठ रुद्ध हो जाता है। उस प्रेमसागर की प्रेम कहानी कहने की चीज नहीं है। वह तो अनुभव करने की, स्वयं अनुभव करने की वस्तु है। अरे, मैं तो साक्षात् देख रहा हूँ कि वह दयामय पिता होकर जो कोई नंगा है उसे ढक रहा है और वैद्य बनकर जो कोई रोगग्रस्त है उन सबको भला चंगा कर रहा है। यह बात केवल भौतिक अर्थ में ही नहीं है। वह प्रेममय सोम तो जिसको जिस गुण से नग्न देखता है उसे वह गुण देकर, उसी गुण-वस्त्र द्वारा उसे आच्छादित कर रहा है और यह सारा संसार जो अपनी अपनी व्याधि से आतुर हुआ पड़ा है वह करुणापरायण उन सबकी चिकित्सा कर रहा है। और उन सबको ही उल्लाघ (नीरोग) कर रहा है। और क्या कहूँ उस सोम की कृपा होती है नो अंधा भी देखनें लगता है और पंगु भी चल निकलता है। एक क्षण में अज्ञानी ज्ञान पा जाता है और असमर्थ

शक्तिपूर्ण हो जाता है। हमारे लिए ये बातें बेशक बड़े चमत्कार की हैं, पर ये इसलिए हैं चूंकि हम अल्पज्ञानी जीव उस सोम की महान् विभूतिओं को नहीं समझ सकते। सचमुच ही, उस सोम की करुणा का कभी वाणी से वर्णन नहीं हो सकता और कोई 'असंभव' नहीं जो उसकी कृपा से सभव नहीं हो सकता।

—शब्दार्थ—

(यत्) जो (नग्नं) नग्न है उसे (सोम प्रभु)) अभ्यूर्णोति) ढक देता है, आच्छादित कर देता है, और (यत्)जो (तुरं)आतुर, करुण है (विश्वं) उस सबकी, सब संसार की वह (भिषक्ति)चिकित्सा कर देता है उसकी कृपा से (अन्धःई) अन्धा भी (प्रख्यत्) देखने लगता है और (श्रोणः) लूला भी (निर्भूत) चल निकलता है।

४२ आत्म घातक

ओं अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्या रताः ।।

यजु० ४० ।९।

शब्दार्थ—(अन्धम्, तमः)आवरण करनेवाले अन्धकार को (प्रविशन्ति) भली प्रकार प्राप्त होते हैं (ये) जो (असम्भूतिम्) कारण प्रकृति को (उपासते)उपासना करते हैं (ततो) उससे (भूय, इव)अधिक जैसे (ते)वे (तमो) अज्ञान अन्धकार को (ये) जो (उ)वितर्क के साथ (सम्भूत्याम्) कार्य प्रकृति में (रताः) रत हैं

भाषानुवाद—कारण रूप प्रकृति की उपासना करनेवाले आवरण करने वाले अन्धकार को प्राप्त होते हैं और उससे भी अधिक अन्धकार को वे प्राप्त होते हैं जो कार्य प्रकृति (ही) में रत हैं।

४३ तेरे हो जाएँ

यस्मै त्वं सुद्रविणो ददाशो अनागस्त्वमदिते सर्वताता ।
यं भद्रेण शवसा चोदयासि प्रजावता राधसा ते स्याम ।।
ऋ० १. ९४.१५ ।।

हे प्रभो हम तेरे हो जायें । हम चाहते हैं कि हम अपने न रहें, तेरे हो जायें। तेरे होने से हम तर जायेंगे परन्तु तेरे हो जाने वाले वे सौभाग्यशाली पुरुष होते हैं जिनके लिये तू 'निरपराधत्व' का वर प्रदान कर देता है। ऐसे पुरुष नाना प्रकार के कार्य किया करते हैं किन्तु उनके सब कर्म विस्तार में तुम्हारी कृपा से सदा निर्दोषता रहती है। हे अखण्ड ! हे पूर्ण अग्ने ! तेरे सहारे किए गए कर्मों में अपूर्णता दोष, त्रुटि कैसे रह सकती है ? तू अदिति है, तुझ में दिति, खण्डता व बन्धन नहीं है। अतः तेरे हो चुके, तेरे अनन्य उपासक के कर्म भी खण्डित व दोष पूर्ण क्यों होंगे ? तेरे ऐसे भक्तों के भयंकर दीखने वाले कर्म भी निर्दोष व उचित ही होते हैं। धन्य धन्य हैं वे तेरी कृपा पानेवाली विशुद्ध आत्मायें जिनके कि सब कर्म-प्रवाह में, हे सुद्रविण ! हे शुद्ध बल व धन वाले ! तुम ऐसी निष्पापता प्रदान करते हो। हम देखते हैं कि इससे उनका भी बल (शयस्) और धन (राधस्) असाधारण प्रकार का हो जाता है। उनका बल सदा 'भद्र' होता है और उनका धन 'प्रजावान्' होता है। उनमें तू जिस प्रकार के बल की प्रेरणा करता है वह बल भद्र होता है' कल्याण के लिए होता है। वह दुर्जनों के सताने व आत्महनन में लगनेवाला अभद्र बल नहीं होता, किन्तु आत्मोन्नति करानें में. दुःखित पीड़ितों की रक्षा में

निरन्तर लगने वाला उत्पादक होता है। अनुत्पादक धन नहीं होता। उनका ऐश्वर्य कुछ भी सृजन न करने वाला नहीं होता, अपितु सदैव उत्तरोत्तर उत्तम उत्तम परिणाम लाने वाला होता है ओह ! ऐसे धन के साथ, ऐसे बल के साथ हम तेरे हो जायें हे अदिते ! निष्पाप होकर हम तेरे हो जायें

—शब्दार्थ—

(अदिते) अखण्ड स्वरूप अग्ने ! (त्वं) तुम (यस्मै) जिस पुरुष के लिए (सर्वताता) उसके सब कर्म विस्तार में, सब कर्मों में अनागस्त्वं) निरपराधता, निर्दोषता (ददाशः) प्रदान करते हो और अतएव (यं) जिस पुरुष को तुम (सुद्रविणः) हे सुन्दर बल व धन वाले !(भद्रेण शवसा) कल्याण कारक बल से तथा (प्रजावता राधसा) उत्पादक धन से (चोदयासि) प्रेरित करते हो, अनुप्राणित हो वैसे होते हुवे हम (ते) तेरे (स्याम) हो जाँय।

४५ सरस्वती महिमा

महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना।
धियो विश्वा विराजति॥

ऋ० म० १। सू० ३। मं० १२।

शब्दार्थ—(मह) महान् (अर्णः) समुद्र (सरस्वती) देवी (प्र) भली प्रकार (चेतयति) प्रकट करती है (केतुना) ज्ञान द्वारा (धियः) बुद्धियों को (विश्वाः समस्त (वि+राजतिविशेष) प्रकार से प्रकाशित करती है।

भाषानुवाद सरस्वती देवी अपने ज्ञान (के प्रकाश) से ज्ञान के समुद्र को प्रकट करती है तथा समस्त बुद्धियों को विशेष प्रकार से प्रकाशित करती हैं।

ENGLISH TRANSLATION.

Saraswati (Goddess of learning) causes to manifest the vast ocean of konwledge and illuminates the intellectual activities of all beings.

४६ समाज के प्राण

ओ३म्, ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट, संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत, सध्रीचीनान्वः सं मनसस्कृणोमि ।

ऋग्वेद,

पद पाठः—ज्यायस्वचन्तः, चित्ति नः मा' वि+यौष्ट, सम्+राधयन्तः, स+धुराः,चरन्तः ।अन्यः, अन्यस्मै, वल्गु, वदन्तः, एत= (आ+इत) सध्रीचीनान्. वः, सम्+मनसः, कृणोमि

सान्वय अर्थः—(ज्यायस्वन्तः) बड़े बनो। (चित्तिनः) विवेक शील बनो (मा वियौष्ट) कभी अलग मत हो। (संराधयन्त) एक साथ मिलकर अपने लक्ष्य को सम्यक प्रकार से साधित करते हुए (सधुराः) केन्द्रशक्ति के साथ(चरन्तः) चलते हुए (अन्यो अन्यस्मै) वल्गु वदन्तः परस्पर प्रिय लगने वाली मनोहर वाणी में बात करते हुए (एत) निकट आओ। तुम सबको (सध्रीचीनान्) एक ही लक्ष्य की ओर एक होकर साथ साथ गति करने वाले (संमनसः) एक विचारों वाला (कृणोमि) बनाता है।

व्याख्या ; "समज" और "समाज" दो भिन्न भिन्न शब्द हैं। "समज', का अर्थ भी समुदाय है पर वह है पशुओं का समुदाय। भेड़ें एक साथ तो चलती हैं पर उनमें अपने सोचने विचारने की शक्ति नहीं होती।

गड़रिया जिधर को हाँकता चला जाता है उधर ही को वे हँकती चली जाती हैं। इसी से तो "भेड़ियाधँसान" वाला मुहावरा बना है।

'समाज" होता है मनुष्यों का समुदाय। इसमें प्रत्येक व्यक्ति के अपने विचार होते हैं, उनको हर तरह की स्वतन्त्रता होती है ,'समज', दासों का समुदाय है ।, "समाज" स्वतन्त्र व्यक्तियों का । जिस समुदाय में SHEEP और SHEPHERD का सिद्धान्त काम कर रहा है वह ,समज' ही होगा, समाज नहीं। "प्रजातन्त्र"एक समाज का सर्वोत्कृष्ट रूप है । इस प्रकार समाज में प्रत्येक व्यक्ति की स्वतन्त्रता विचारशीलता, विवेक-सामर्थ्य एक बहुत बड़ी सम्पत्ति है। यही समाज की जगृति, प्रगति और चेतना का एक मात्र कारण है यदि "समाज"—भावना में कोई भी कमी आजाये । "समाज" में तीन शब्द हैं सम्, आ और अज् सम् का अर्थ है एक साथ, मिल कर, एक ही तरह से Expresses congunction union, throughness, inteusity, completenes,—मोनियर विलियम्स का अर्थ है विध्यनुसार, ढंग से, । "अज" का अर्थ है गति करना या फेंकना । जिस समाज के सदस्य एक साथमिल कर तीव्रता पूर्णता के साथ एक निर्धारित मार्गसे और निर्धारित रीति से प्रगति करेंगे वह समाज प्रगति करता चला जाएगा । उस समाज में यह भी शक्ति होनी चाहिए कि समाज विरोधी तत्त्वोंकोवह अपनेमें से निकाल दे । जिस समाजमें ये शक्तियाँ नहीं रहेंगी वह नाममात्र का समाज धीरे धीरे बुझते दीपक के समान गिरता चला जाएगा और एक समय आएगा कि केवल उसका धुआँ ही रह जाएगा और ज्योति कभी कीबुझ चुकी होगी । "समाज"के लिए, इसप्रकार, सम्, आ और अज् तीनों भावनायें आवश्यक हैं। उनकी प्रतिष्ठा कैसे की जाए इसके उपाय इस मन्त्र में हैं । जिस समाज के सदस्य इन बातों पर चलेंगे वह समाज सदा ही जीवित और जागृत रहेगा ।

दस निर्देश

१. ज्यायस्वन्तः—(ज्यायस—Superior, more excellent,

greater, larger, stronger, —मो. वि.)
दूसरोंसे रीति, नीति,व्यवहार, ज्ञान चरित्र और आचरणमें ऊँचेरहो।
'अध्युत्तरस्मिन्''—जीवन स्तर ''उत्तर''अर्थात् उत्कृष्टतम हों। संख्या में अधिक रहो दूसरों सेअधिक शक्ति शाली बनो। ''शारीरिक' आत्मिक और सामाजिक'' शक्ति तुम लोगों की दूसरों से कहीं अधिक हो।

इसके लिए आवश्यक है कि कभी भी अपने अन्दर तुच्छ होनेकी भावना पैदा न करो। अपने को पापी मानने के बजाए पुण्यशील समझो। अपने को अशक्त समझने के बजाए सशक्त समझो। अपनी आत्मा को छोटा मत समझो। आत्मा पापी नहीं हैं, अतिपवित्र है, अतिशक्ति शाली हैं इसकी शक्ति को समझो और उसके विकास में लगजाओ। जैसे जैसे आत्मा और मन की शक्ति विकसित होती चली जाएगी तुम दूसरों से सब बातों में उत्कृष्ट होते चले जाओगे.

२. **चित्तिनः**—विवेकी बनो। (चित्तिन्—Intellegent —मो. वि.) अच्छे बुरे सत्य असत्य, धर्म अधर्म, हित अहित को समझने की शक्ति पैदा करो। विवेक के द्वारा अपने जीवन का हितकारी एक सिद्धाँत चुन लो और उसी मार्ग पर बढ़ते रहो।

३. **मा वियौष्ट**—कभी अलग मत होना। किससे? आपस में एक दूसरे से—ईर्ष्या द्वेषादि करके। और किससे? समाज से। समाज के बिना मनुष्य चल नही सकता। जीवन में निर्द्वन्द्वरूप और निर्बाध रूप में यदि चलना होतो मनुष्य अकेला उसरूप में चल नहीं सकता। उसे किसी न किसी समाज का सहारा अवश्य लेना होगा। जब सहारा लेना ही है तो उसके क्रियात्मक अंग ही क्यों न बन जाओ। क्रियात्मक अंग न बनकर केवल अपने स्वार्थ के लिए समाज का सहारा लेने वाला व्यक्ति कृतघ्न है, समाज-द्रोही है। और एक बार पूर्णतया विचार करके जिस समाज

का अंग बनने का निश्चय करलो उससे कभी अलग मत हो। जैसे शरीर के अवयव स्वयं सड़ने पर ही शरीर से अलग होते हैं अन्यथा मृत्यु तक कभी अलग नहीं होते इसो प्रकार तुम भी समाज के अभिन्न और अभेद्य अवयव बनजाओ। कभी अलग मत हो, किससे ? अपने सिद्धान्त से। अपने धर्म और कर्तव्य से।

४. **संराधयन्तः**— (राध् = to Succeed, to be suceessful with, thrive, prosper. to beneady for, submit to, to be fit for (मो॰ वि॰) प्रयत्न और संकल्प इस प्रकार के हों कि लक्ष्य-सिद्धि में तुमको सफलता मिले। तुम्हारे सिद्धान्त ऐसे हों कि उनसे जीवन में कभी हार न खानी पड़े। हमेशा आगे ही बढ़ते चले जाओ, समृद्ध होते चले जाओ, उन्नति पथ पर बढ़े चलो। किसी भी क्षण और किसी भी संघर्ष के लिए सदा तत्पर रहो। आत्म समर्पण-धर्म और कल्याण कारी समाज एवं राष्ट्र की स्थापना के लिए—करने को तैयार रहो। तुम अपने आप को ऐसा बनालो कि कोई भी काम तुम्हें दिया जाय इसके लिए अपने आपको योग्य ठहरा सको। यह बातें सभी सदस्य एक साथ मिल कर करें—एकता रखते हुए करें— अलग अलग दिशाओं में अलग अलग सदस्यों के के अलग-अलग प्रयत्नों और संकल्पों का समाज-सगठन की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं है।

एक प्रयत्न और एक सँकल्प हो, तब जा कर के एक एक व्यक्ति की सफलता समाज की सफलता बन जायगी। एक एक की समृद्धि समाज की समृद्धि एक एक की उन्नति समाज की उन्नति और एक एक की गति समाज की प्रगति बन जायगी।

५. **सधुराः**—पहिए में अरे अनेक होते हैं, और उन अरों में अपनी अपनी शक्ति और [illegible] अपनी गति होती है। परन्तु वे सब मिलकर स्वयं गतिवान् [illegible]नकर सारे पहिये को एक ही दिशा में इसलिये गतिमान बना दे हैं कि वे एक धुरे में जड़े हुए हैं।

धुरी न हो तो पहिया छिन्न भिन्न हो जाए, अलग-अलग जा पड़े। समाज का एक-एक व्यक्ति स्वतंत्र होते हुए सारे समाज को एक पहिए के समान वह एक ही दिशा में गतिमान् बना सकता है। लेकिन तब जब वे सब व्यक्ति एक धुरा से जुड़े। उन्हें इसके लिए पहले अपनी धुरा कौनसी है यह समझो। आर्य समाज की धुरा कोई व्यक्ति नहीं है— जैसे कि अन्य समुदायों में हैं। इसकी धुरा "वेद" है। फिर धुरा को समझने के पश्चात् उससे अपने आपको जोड़े रहो। जोड़ने वाली चीज है 'श्रद्धा'। सभी व्यक्ति यदि पूर्णश्रद्धावान हों— एक सिद्धान्त एक लक्ष्य और एक सिद्धाँत के प्रति तो समाज कभी-छिन्न-भिन्न नहीं होगा।

६ **चरन्तः**—समाज का एक व्यक्ति तो चलता रहे और शेष सोते रहें तो भी समाज विघटित हो जायेगा। पतनोन्मुख हो जाएगा। सभी चलते रहें। आलस्य और प्रमाद को परे रखकर प्रयत्न और गति को सभी अपना सहचर बनालो।

७. **अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्तः**—परस्पर प्रीतिमय व्यवहार समाज के लिए बड़ा ही आवश्यक है। किसी से कोई भूल चूक हो जाए तो उसी समय उसे आड़े हाथों न लेकर या उसे चारों खाने चित्त करने की भावना मन में न रखकर उसे प्रीतिसे समझाओ। मनोहर वाणी बोलो, जिससे सुनने वाला मोहित हो जाए।

८. **एत**—एक दूसरे के निकट से निकट आने की कोशिश करो। दूसरे के मनोभावों को सही सही समझना अत्यन्त कठिन है। पर जिस समाज में यह चीज पैदा हो जाती है और सदस्यों में कभी भी कोई भी (Misunderstanding) गलत फहमी नहीं हो पाती उसमें व्यक्तियों के हृदय एक दूसरे के अत्यन्त निकट आ जाते हैं।

९. **सध्री चीनन्**—Direected to one aim pursuing the same goal, united—मो० वि०) "सध्रीचिन्" का अर्थ है वे व्यक्ति जिनका लक्ष्य एक हो और जो उस लक्ष्य की सिद्धि के लिए

एक साथ कन्धे से कन्धा भिड़ा कर चलने वाले हों। "संगच्छध्वम्"। लक्ष्य प्राप्ति के लिए दिए जाने वाले संघर्ष में दूसरों को आगे संकट में डालकर खुद पीछे मत रह जाओ। यह कायरता है, कृतघ्नता है। पूरा समाज जो कुछ अपना लक्ष्य निर्धारित करले—चाहे बहुमत में चाहे सर्व सम्मति से—वही लक्ष्य सब का लक्ष्य है। उसकी सिद्धि के लिए प्रयत्न करना समाज के प्रत्येक अंग का कर्तव्य हो जाता है। इस तरह से जिस समाज के व्यक्ति चलेंगे वही समाज जीवित रहेगा।

१०. **संमनसः**—सब सदस्य "सध्रीवी भी" हों सब कंधे से कंधा भिड़ाकर चलें, इसके लिए आवश्यक है कि इसी विषय पर कोई निर्णय लेते समय ही सब को साथ में लेने का प्रयत्न किया जाए अधिक से अधिक "सामनस्य" लाया जाए। और यह निश्चित है कि यदि लक्ष्य–प्रयत्न–संकल्प–धुरा--दिशा सब एक हो तो वहाँ विचारों की एकता अपने आप आ जाएगी।

परमात्मा का मनुष्य मात्र को दिया गया यह पवित्र सन्देश है। जो भी समाज जीवित, जागृत, सचेत, प्रगतिशील, और उन्नत बनना चाहता है, उसके सदस्यों में मनसा वाचा कर्मणा एकता होना आवश्यक है और जिस समाज के सभी सदस्य उपर्युक्त दस निर्देशों का पालन करेंगे उनमें सदा एकता बनी रहेगी। ये दस निर्देश समाज को जीवित रखने वाले दस प्राण हैं।

वेद कहता है

मा गृधः

लालच मत कर — यजु० ४०।१

Don't be gready.

४७ देव प्रेरणा से नदी पार करो !

वर्चसा मां समनक्त्वग्नि मेधाँ मे विष्णु न्यनक्तवासन् ।
रयिं मे विश्वे नियच्छन्तु देवाः स्योनाभापः पवनैः पुनन्तु ।।
अथर्व १८।३।११

इस मन्त्र में चार प्रार्थनाएँ हैं (१) (अग्निः माँ वर्चसा अनक्तु) अग्नि मुझे तेज से युक्त करे, (२) विष्णु मे मेधां आर (अनक्तु) व्यापक प्रभु मुझे मेधा से युक्त करे, (३) (विश्वे देवाः मे रयिं नियच्छन्तु) सब विद्वान् मुझे समृद्धि प्रदान करें, (४) (प्रायः स्योनां पवनैः पुनन्तु) आप्तजन ज्ञान के अपने पवित्र पवन से मुझे पवित्र करें।

पापियों का संगठन, पुण्यात्माओं में फूट

समाज को श्रेष्ठ बनाने का दायित्व विद्वानों पर अधिक है। पर खेद की बात यह है कि विद्वान् इस कर्त्तव्य पालन में प्रायः शिथिल और लापरवाह देखे जाते हैं। किसी भी देश के इतिहास के पन्नों को हम सरसरी नजरसे देखें। एक अद्भुत तथ्य सामने आता है। अपराधियों, जुर्म करने वालों और भ्रष्टाचारियों का दृढ़ संगठन मिलेगा पर विद्वानों में प्रथम तो एकसूत्रता आएगी ही नहीं और यदि कभी उसके अकुर प्रस्फुटित होने लगें तो, शीघ्र ही, विद्वानों में मतभेद हो जाएँगे। ताश के पत्तों के समान सारा संगठन तितर-बितर हो जाएगा। कोकीन बेचना जुर्म है। लगभग सभी देशों में इसकी खुली बिक्री है पर कोकीन का व्यापार खूब चलता है। दक्षिण अमेरिकाके

पेरु देश से लेकर पाकिस्तान के पेशावर तक गुप्त और भूमिगत संस्थाओं द्वारा बे रोक-टोक यह व्यापार चलता है पर संसार में ऐसा कोई एक मंच नहीं है जहाँ पेशावर से पेरू तक के विद्वान् एक साथ बैठकर व्यक्तिगत, सामाजिक और विश्व की नवीन समस्याओं का हल कर सकें।

देव कर्मशील हों

इस मन्त्र में यही प्रार्थना की गई है कि अग्रगामी और प्रकाश के प्रेमी विद्वान मुझे तेज युक्त करें, अर्थात् मेरे हृदयमें ऐसा तेज भर दें जिसके सम्मुख पाप भस्म हो जाए विद्वानों से मैं कैसे लाभ उठाऊं ? इसलिए दूसरी प्रार्थना हैकि व्यापक प्रभु के भक्त विद्यमान मेरी मेधा को ऐसा तीक्ष्ण बनाएँ कि मैं उनके वचनों और शिक्षाओं से लाभ उठा सकूँ। तीसरी प्रार्थना विश्व के विद्वानों से समृद्धि की है। मनुष्य की सर्वोत्कृष्ट समृद्धि कर्मशीलता है। कमण्य व्यक्ति रेगिस्तान को भी नन्दनवन बना देता है और अकर्मण्य व्यक्ति सोने की खान को भी ईंट पत्थरों के ढेर में परिवर्तित कर देता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में नारद सनत्कुमार सैवाद में जहाँ "यो वै भूयातासुखम्"—जो भूया है वही सुख है—इन शब्दों से सुख की व्याख्या की गई है वहाँ सनत्कुमार के इस प्रश्न के उत्तर में कि इस सुख की उपलब्धि कैसे हो सकती है ? नारद ने कहा है—"चरैवेति", अर्थात कृति, कर्मशीलता से ही। इसलिए मानव को आज भी कर्मशील रहना चाहिए। पर चौथी प्रार्थना बड़ी महत्व की है। कर्मशील व्यक्ति, बहुधा, अहमन्यता में आकर पथभ्रष्ट हो जाता है। उस समय विवेक शून्यहो अधः पतन के मार्ग पर गिरता जाता है। इस लिए कवि ने कहा है—

विवेक भ्रष्टानाँ पवति विनिपातः शतमुखम्ः। विवेक भ्रष्ट एक ओर नहीं, सैंकड़ों दिशा में पतनोन्मुख हो जाता है। इसलिए चौथी

प्रार्थना पविश्रता और पुनोत जीवन की है। इसी पुनीत जीवन को मनु महाराज ने "आचार" नाम से कहा है। मनु कहते हैं—

आचारात्सपमतं ह्र-पायुरा चारा दीप्सिताः प्रजाः।
आचारद्ज भक्षराम् माचारो हत्पल क्षरणम् ॥ ४।१५६

पविश्र जीवन से दोर्घायु प्राप्त होती है, इसीसे अच्छी संतान और अक्षय धन की प्राप्ति होती है और दुष्ट लक्षण वाला पुरुष पविश्र जीवन न होने से नष्ट हो जाता है।

४८ वह विष्णु

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः
दिवीव चक्षुराततम् ।।ऋ०। म० १। सू० २२। मन्त्र २०।

शब्दार्थ—(तत्) उस (विष्णोः) सर्वव्यापक परमात्मा का (परमं) सर्वश्रेष्ठ (पदं) पद को (सदा) निरन्तर (पश्यन्ति) देखते हैं (सूरयः) ज्ञानी पुरुष (दिवि)सूर्य्यमें (इव) सदृश (चक्षुः) नेत्र(आततम्) विस्तृत।

भाषानुवाद उस विष्णु (सर्वव्यापक परमात्मा के सर्वश्रेष्ठ) पद को जो सूर्य्य आदि के प्रकाश में चक्षु के सदृश विस्तृत है उसका दर्शन ज्ञानी पुरुष निरन्तर किया करते हैं।

ENGLISH TRANSLATION

The wise men always behold that lofty (knowable) station of vishnu (All-pervading God) as if it were extended in the light of the sun (etc.) like an eye.

कैसे रहें ?

ईशावास्यमिदꣳसर्व यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम् ॥

(यजु० अ० ४० मं १)

अन्वयः जगत्यां यत् किंच जगत् (अस्ति), इदं (तत्) सर्वं ईशा आवास्यं (अस्ति) तेन त्यक्तेन (सता जगता) भुंजीथा । मागृधः ! धनं कस्यस्विद् भवेत् ?

अर्थ (जगत्यां) इस सृष्टि रूपी प्रपंच में (यत्किंच) जो कुछ (जगत्) गतिविधान है (इद सर्वं) वह बस (ईशा) परमात्म-शक्ति के द्वारा (आवास्य) परिपूरित होना चाहिए । (तेन भुंजीथाः) उस जगत् या गति विधान की सहायता से (भुँजीथाः) हे मनुष्य तू सुख का उपभोग कर । (त्यक्तेन—त्यक्तेन जगता) ऐसे गतिविधान के द्वारा जिसको तूने छोड़ दिया है अर्थात् जिसमें तू चिपटा नहीं है । मागृध (चिपटे मत ! (धनं) धन (कस्य स्वित्) किसका है ? अर्थात् किसी एक का नहीं ।

व्याख्या—इस मंत्र में मुख्य शब्द 'जगत्' है । 'जगत्' का ही प्रकरण है । 'जगत्' का मुख्य अर्थ क्या है ? जीव से इसका किस प्रकार का सम्बन्ध होना चाहिये ? किन भूलों के होने की संभावना है जिनसे बचना आवश्यक है ? इन सब बातों का इस मंत्र में उपदेश दिया गया है । इस मंत्रमें कई शब्द गंभीर विचार के पात्र हैं । क्योंकि इस विषय में अनेक भ्रान्तियुक्त धारणायें हैं । मंत्र में कोई शब्द कठिन नहीं है । केवल सीधी रीति से विचार करना चाहिये और कल्पनाओं से बचना चाहिये ।

(जगत्यां) जगती में। जगती नाम है समस्त प्रपंच का जिस को सृष्टि या संसार कहते हैं। यह संसार परिवर्तनशील है। एकरस नहीं। परिवर्तन का नाम है गति! संसार नाम ही सम्पूर्ण गतिविधान का है। अतः 'जगत्, का अर्थ हुआ "गतिविधान" गतिविधयां तो प्रत्यक्ष ही हैं। इसके सिद्ध करने को आवश्यकता नहीं। घटनायें नित्यप्रति होती हैं। प्रत्येक क्षण में कोई न कोई गति हो जातो है। यह 'गति' न भ्रम है न कल्पित है। इस का आधार अविद्या नहीं है। अर्थात् ऐसी वस्तु नहीं जिसका अस्तित्व हो ही नहीं और समझने वाले ने अविद्या या भ्रान्तिके कारण इसको 'गति' समझ रखा हो। यह गतियां परस्पर असम्बद्ध भी नहीं। एक का दूसरी से सम्बन्ध है। इसलिये जगत् का अर्थ 'गतिविधान' करना चाहिये। 'जगती' सामूहिक अर्थ देता है। 'जगत्' वैयक्तिक गति का सूचक है। इसलिये इसके साथ 'यत् किंच' शब्द का प्रयोग किया गया है।

'गतिविधान' के सम्बन्ध में पहली बात यह सोचनी है कि ,गति' है क्या? आप चलते हैं। एक स्थान से दूसरे स्थान को। एक स्थान से गति आरम्भ होती है, दूसरे स्थान पर समाप्त होती है। स्थान (स्थ) ठहरा हुआ है। गति वहां से आरम्भ होती है। 'गम्' के धात्वर्थ का 'स्था' के धात्वर्थ अर्थ के साथ परस्पर सम्बन्ध है। यदि स्थान न हो तो गति का आरभ कहां से हो? और यदि स्थान न हो तो गति की समाप्ति कहां पर हो? अर्थात् ठहरना और चलना एक दूसरे की विरोधी क्रियायें नहीं अपितु सापेक्षिक हैं। परिवर्तन का अर्थ ही यह है कि जो चीज जिस अवस्था में हो उस दूसरी अवस्था को प्राप्त हो जाय। परिवर्तित वस्तु नई नहीं है। उसमें पुराना अस्तित्व बना हुआ है। यह भावना न हो तो परिवर्तन या गतिशीलता कह ही नहीं सकते। बालों वाले आदमी को मंड दिया जाय तो कहेंगे कि पहले यह बाल वाला था अब मुंडा हो गया। यदि उस बाल वाले आदमी को हटाकर उसकी जगह किसी मुंडे को ला खड़ा किया जाय तो यह नहीं कहेंगे कि बाल वाला आदमी

परिवर्तित होकर मुंडा हो गया। गधे के सिर पर सींग होते ही नहीं। बैल के सिर पर होते हैं। अ:त बैल के सींग काटकर उसको बदला हुआ कह सकते हैं गधे को नहीं। इस बात को पूर्ण रीति से समझ लेना चाहिये। तभी मंत्र का असली रहस्य खुल सकेगा।

गति क्या है? इस विषय में दार्शनिक जगत् में जभिन्न-भिन्न धारणायें है। कुछ लोग कहते हैं कि 'गति' वास्तविक नहीं, भ्रान्ति मात्र है। जैसे सूर्य चलता नहीं परन्तु चलता प्रतीत होता है। रेल के यात्री को सड़क के वृक्ष चलते दिखाई देते हैं। वस्तुतः चलते नहीं। इतना तो ठीक है कि कभी-कभी हम ठहरी चीज को चलती समझ लेते हैं। परन्तु साथ ही यह भी तो है कि चलती चीज को ठहरी हुई समझते हैं। रेल का यात्री न चलते हुए वृक्षों को चलता हुआ देखता है और चलती हुई रेल को ठहरी हुई कहता है। इससे स्पष्ट है कि जो युक्ति 'गति' को भ्रान्त मानने के लिए दी जा सकती है। इससे 'गति' मात्र का खण्डन नहीं होता। भ्रान्ति इसलिए नहीं है कि 'गति' की कोई सत्ता नहीं। अपितु इसलिए कि भ्रान्ति का कारण अन्य है। जिस पुरुष के मन में भ्रान्ति उत्पन्न हुई उसके मन को भी तो गतिशील मानना पड़ेगा। भ्राँति का मानने वाला तो स्वयं गतिशील सिद्ध हो गया। इसलिए 'गति' कल्पित नहीं।

'गति' के अस्तित्व के विरोधी एक हेत्वाभास देते हैं। यह कहते हैं कि कोई वस्तु उस स्थान पर गति नहीं कर सकती जहाँ वह है। और उस स्थान पर भी गति नहीं कर सकती जहाँ वह नहीं है। अतः दोनों अवस्थाओं में गति असंभव है। अतः 'गति' भ्रम मात्र है। (A thing does not move where it is. It does not move where it is not. Therefore it does not move at all.) यह ठीक है कि जिस देश-विशेष को मैं घेरे हुए हूँ उसी देश-विशेष में मेरी गति असंभव है। गति के लिए उस स्थान को छोड़ना होगा। यह भी ठीक है कि जहाँ मैं हूँ ही नहीं, वहाँ मेरी

गति कैसे होगी ? परन्तु इसका यह अर्थ तो नहीं कि मैं उस स्थान को जहाँ मैं हूँ छोड़ भी नहीं सकता। ("A thing does not move, where it is. It cannot move where it is not. But is can move *from* where it is, to where it is not.")

यदि गति वास्तविक है तो जगत् अर्थात् गतिविधान भी वास्तविक हुआ और जगत् अविद्या, माया या भ्राँन्तिमात्र नहीं रहा। विधान (System) भ्राँन्तियों का नहीं हो सकता। जगत् का भाव है अभाव नहीं। सूर्य निकलता और डूबता है। वृक्ष बढ़ता और नियमपूर्वक उसका ह्रास हो जाता है। यह केवल गति नहीं अपितु गति विधान है। दो गतियों में परस्पर सम्बन्ध है। जैसे किसी यंत्र के भिन्न-भिन्न पुर्जे अलग-अलग नहीं होते। पुर्जे अलग रहें तो वह यत्र नहीं न वे पुर्जे यंत्र के हैं। इसी प्रकार से यदि असम्बन्ध गतियां हों तो वह न गतिविधान है न जगत् है।

यंत्र के पुर्जे नहीं जानते कि वे यंत्र के पुर्जे हैं। यंत्र भी नहीं जानता कि कौन पुर्जा मेरा है और उसका क्या काम है। इसका ज्ञान तो यंत्र के संचालक को ही है। जो हर पुर्जे के वैयक्तिक धर्मों का ज्ञान रखता है और उन पुर्जों को यंत्र के संचालन में क्या करना है इसको भी समझता है। इसी प्रकार जगत् के गतिविधान का भी एक संचालक है। वह जानता है कि सूर्य को क्या करना है और चन्द्रमा को क्या करना हैं। चन्द्रमा नहीं जानता है कि सूर्य को क्या करना है। सूर्य नहीं जानता कि चन्द्रमा क्या है। परन्तु जगत् के गतिविधान का नियन्ता सूर्य और चन्द्र दोनों की गतियों का ज्ञाता तथा स्वामी है। उसी नियन्ता के लिए 'ईश्' (ईट्) कहा है। 'ईश ऐश्वर्य' से क्विप् प्रत्यय करके 'ईट्' (ईष्टे इति) बना। उसका तृतीयान्त हुआ 'ईशा'। 'ईशा' का अर्थ हुआ "नियन्ता के द्वारा"। 'वास्यं' या 'आवास्यं' का अर्थ है 'अच्छादनीयं'। वसु धातु से 'ण्यत्' (ऋहलोर्ण्यत्। पा० सू० ३१, १२४) प्रत्यय लगाकर 'वास्य' और 'आङ्' उपसर्ग

लगाने से 'आवास्यं' बना 'आवास्यम्' का अर्थ हुआ कि प्रत्येक गतिविधान के लिए आवश्यक है कि उसमें संचालक का सान्निध्य हो। इसी प्रकार इस महान् गतिविधान के लिए भी आवश्यक हुआ कि उसका कोई ऐसा संचालक हो जिसके वश में समस्त गतिमान पदार्थ हों। 'परमात्मतत्त्व' की सिद्धि में परमोत्कृष्ट हेतु के संचालक के बिना कोई गतिविधान बन ही नहीं सकता। कुछ लोग यह तो मानते हैं कि यह प्रपंच एक गतिविधान है परन्तु वे इसको स्वयं संचालित या औटोमैटिक (Automatic) कहते हैं। वह इस बात को भूल जाते हैं कि औटोमैटिक (स्वयं-संचालित) यन्त्र भी वस्तुतः स्वयं संचालित नहीं होता। उसका भी कोई 'वशी' (वश में रखने वाला) होता है। अन्यत्र कहा है "विश्वस्य मिषतः वशी"। (ऋग्वेद १०, १९०,२) यही 'वशी' इन मंत्र में 'ईट्' शब्द द्वारा उल्लिखित है। तात्पर्य यह है कि इस प्रपंच की ओर देखने और इनकी रूपरेखा पर विचार करने से यह आवश्यक हो जाता है कि हम परमात्मतत्त्व' की ओर जावें। संसार के बाह्य चलन और मनुष्य के मस्तिष्क (मनोवैज्ञानिक) नियमों से यही निर्धारित होता है।

कुछ लोग समझते हैं कि यदि प्रपंच गतिशील है तो वह नश्वर हुआ। नित्यता या सत्ता जाती रही, क्योंकि प्रत्येक गति नाशवान हैं, अतः गतिविधान भी अनित्य ठहरा। परन्तु व्याकरण का एक सिद्धान्त है :—"एकदेशविकृतानन्यत्वम्"। अर्थात् एक देश के विकार से कोई वस्तु अन्य नहीं हो जाती। गधे का कान काट दिया जाय तो गधा ही रहेगा। यह भावना विश्वव्यापी है। इसी प्रकार सृष्टि के एक देश में विकार होने से समस्त सृष्टि नष्ट नहीं हो जाती। प्रपंच का प्रवाह है। यह प्रवाह ही ईश्वर के अस्तित्व का सूचक है। यों कहना चाहिए कि जगत् का गतिविधान हमको मजबूर करता है कि ईश्वर की सत्ता को मानें, और कोई चारा ही नहीं है।

अब आप इस गतिविधान से अपने सम्बन्ध का हिसाब लगाइए। आप ऐसे चक्र से सम्बद्ध हैं जो कभी एक अवस्था में नहीं रहता।

निरन्तर गतिवान् है, इसलिए यदि आप किसी एक देश से चिपक जायेंगे तो नष्ट हो जायेंगे। वह यंत्र आपके लिए रुकेगा नहीं। इसलिए आवश्यक है कि हम इस गतिविधान के साथ ऐसी भावना रक्खें जैसी एक यात्री की मार्ग के साथ होती है। यात्री मार्ग पर चलता है, उससे चिपटता नहीं। अर्थात् मार्ग के प्रत्येक प्रदेश से उसका सम्बन्ध क्षणिक होता है। वह उसको छोड़कर आगे बढ़ जाता है। यदि यात्री का पैर एक स्थान पर चिपक जाय तो यात्रा भंग हो जाय। वह मार्ग पर चलेगा, चिपटेगा नहीं। इसका नाम 'क्रान्ति' है। क्रान्ति का अर्थ है आगे बढ़ना। आगे बढ़ने का अर्थ यह है कि पिछले स्थान को छोड़ना। इसलिए 'तेन त्यक्तेन' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'तेन का अर्थ है "जगता" (तृतीयान्त)। मार्ग यात्रा का साधक है, परन्तु तभी तक जब तक कि वह मार्ग 'त्यक्त' होता जाय अर्थात् छूटता जाय; मार्ग चिपटे तो बुरा और यात्री चिपटे तो बुरा। मार्ग अर्थात् जगत तो किसी से चिपटता नहीं। उसका स्वभाव ही चिपटने का नहीं। हाँ, मनुष्य चिपटना चाहता है और उसकी यह चिपटने की इच्छा उसकी यात्रा में बाधक होती है। आप चलते नहीं, ढकेले जाते हैं। आपकी आन्तरिक इच्छा चिपटने की होती है। परन्तु दैवीशक्ति आपको बाधित करती है कि आपको आगे को ढकेल दिया जाय। आप अपने भोगों के लिए जगत् का प्रयोग अवश्य करें क्योंकि जगत् आपके भोगों का साधक है। उसी के द्वारा आप भोगेंगे। परन्तु इस साधक का विशेषण है 'त्यक्त'। त्यागा जाता हुआ या त्यागा जाने वाला। अर्थात् जगत् को जो मार्ग के समान यात्रा का साधक बनाना चाहता है उसे त्याग भाव धारण करना हो, चिपटने की भावना छोड़ देनी होगी। हम जगत के एक मनोरम, सुन्दर और सुखप्रद उद्यान में से गुजरते हैं। समस्त उद्यान हमारे सुख के लिए है। मनुष्य-जीवन से बढ़कर और कौन-सा सुखप्रद जीवन होगा। परन्तु जगत्-नियन्ता का आदेश है कि इस बाग का उपभोग

करो, मार्ग के रूप में। यह मार्ग है सराय नहीं। सड़क को घेर कर खड़े हो जाइये। पुलिस गिरफ्तार कर लेगी। मार्ग चलने के लिए है, डेरा डालने के लिए नहीं। इसलिए त्यागभाव धर्म का मुख्य अंग है। **न भोगने का नाम त्याग नहीं,** भोग से न चिपटने का नाम त्याग है। त्यागमय उपभोग सदा सुखकारी होता है। दुःख भोग में नही, चिपटनें में है। इसीलिए दो आदेश साथ-साथ दिये हैं; 'भुञ्जीथाः' और 'मागृधः'। भोगो और चिपटो मत ! जगत् को भोगने से आप कहां रुक सकते हैं। आपकी शारीरिक आवश्यकताएं आपको भोगने के लिए बाधित करती हैं। यह कैसे संभव है कि आप खाना न खायें। सौन्दर्य का निरीक्षण करके आनन्द न लें। भोग तो जीवन के साथ है। परन्तु भोग को मर्य्यादा में रखने के लिए 'मागृधः' (चिपटो मत) यह आदेश भी आवश्यक है। मुमुक्षु भोगने के साथ त्यागने के लिए भी उद्यत रहता है।

अब प्रश्न यह है कि न चिपटने का आदेश क्यों दिया ? मार्ग और सराय में भेद हैं। मार्ग भी स्थान है और सराय भी। परन्तु सराय केवल आप के लिए है। मार्ग सबके लिए है जगत् के गति-विधान में सबका भाग है, केवल एक का नहीं। जगत्रूपी धन 'कस्यचित्' अर्थात् किसी एक का नहीं है, सबका है। ऐसा तो नहीं है कि वह धन किसी का नहीं है। किसी का न होता तो उसे कोई न भोगता। यदि कोई न भोगता तो उस धन का लाभ ही क्या था ? धन व्यर्थ नहीं है। भोगने की वस्तु है। परन्तु एक जीव के भोगने की नहीं सबके भोगनेकी। अतः जब कोई एक व्यक्ति धन पर प्रभुत्व जमाना चाहता है तो धन उसको सुखद होने के स्थान में दुःखद हो जाता है। जिस प्रकार स्वादिष्ट वस्तु अधिक देर तक मुंहमें रखनेसे स्वाद-हीन हो जाती है, उसी प्रकार धनसे चिपटनें से धन अलाभकर होजाता है। इस प्रकार इसमंत्र में चारबातें मुख्य हैं

(१) जगत् के गतिविधान की वास्तविकता (२) ईश्वरका उसपर प्रभुत्व(३) जगत् भोग के लिये (४)जगत्से चिपटना नहीं चाहिये।)

५० प्रकाश पुँज

हिरण्यगर्भः समवर्ततताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां, कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

(ऋग्वेद १० । १२१ । १, अथर्ववेद ४। ५। ७, यजुर्वेद १३ । ४ २३। १, २५ । १०, तैत्तिरीय संहिता ४। १।८। ३। २। ८। २ ताण्ड्य-ब्राह्मण ६। ६। १२)

अन्वय : अग्रे हिरण्यगर्भः समवर्तत । भूतस्य जातः एक: पतिः आसीत् । स पृथिवीं उत इमां द्यां दाधार । कस्मै (एकस्म) देवाय हविषा विधेम ।

अर्थः (अग्रे पहले अर्थात् सृष्टि की रचना से पूर्व (हिरण्यगर्भः) प्रकाश-पदार्थों के बीजरूप को अपने गर्भ में रखने वाला या धारण करने वाला (सं अवर्तत) था । वह (भूतस्य) उत्पन्न हुई सृष्टि का (एकः) अकेला, अद्वितीय (जातः) स्वयंसिद्ध, स्पष्ट (पतिः) स्वामी (आसीत्) था । (स) उसी परमात्मा ने (पृथिवीं) इस पृथिवी को (उत) और द्युलोक को (दाधार) धारण किया हुआ है (कस्मै—एकस्मै) उसी एक परमात्मा को (हविषा) हवि द्वारा (विधेम) हम धारण करें ।

व्याख्या—सृष्टि पर दृष्टि डालते ही बुद्धिमान पुरुष के मन में यह प्रश्न उठता है कि यह सृष्टि कैसे उत्पन्न हो गई, किसने उत्पन्न की और उत्पत्ति से पूर्व इसकी क्या अवस्था थी । किसी वस्तु के प्रयोग से पहले उसकी स्थिति और प्रकृति का जानना आवश्यक है । घोंसला बनाने से पहले चिड़ियाँ भी जाँच लेती हैं कि कौन-सा स्थान सुदृढ़ होगा ।

क्या सृष्टि स्थायी और एकरस है ? नहीं । तो क्या कोई ऐसा काल रहा होगा जब इसकी उत्पत्ति हुई ? अवश्य । तो क्या उस

उत्पत्ति काल से पहले यह थी ? नहीं । अगर होती तो उत्पत्ति का क्या अर्थ था ? यदि नहीं थी तो क्या उसका कारण था ? अवश्य। परन्तु इस विषय में मतमतान्तरों में बहुत भेद है। कुछ तो कहते हैं कि सृष्टि से पहले कुछ न था। शून्य से उत्पन्न हो गई। जैसे बीज गलकर जब अपने अस्तित्व को शून्य बना देता है तो उससे वृक्ष उत्पन्न हो जाता है। वेद मंत्र इसका खण्डन करता है। उपनिषद् कहती है : 'कथं असतः सद् जायेत' (असत् से सत् कैसे उत्पन्न होगा) यदि शून्य से ही कोई चीज बन जाय तो साध्य के लिए साधन की आवश्यकता न हो। शून्य तो हर किसान के पास है। शून्य को खरीदने के लिए श्रम या पैसे की जरूरत नहीं। आलसियों और निकम्मों के पास ही शून्य होता है। फिर क्या आवश्यकता है कि गेहूँ उत्पन्न करने की इच्छा वाला गेहूँ का ही बीज बोये। और चने का इच्छुक चने का बीज ! वेदान्तदर्शन में व्यास मुनि ने एक सूत्र लिखा है :—

"उदासीनानामपि चैवं सिद्धः।" (वेदान्तदर्शन २-२-२७) अर्थात् यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति हो जाय तो 'अभाव' तो सभी को प्राप्त है। परिश्रम "भाव" के लिए करना पड़ता है अभाव के लिए नहीं। दस रुपये पचास रुपये के बराबर नहीं होते। अतः जो आदमी दस रुपये के स्थान में पचास रुपये प्राप्त करना चाहता है उसको अधिक परिश्रम करना पड़ेगा । परन्तु दस रुपये का अभाव, और पचास रुपये का अभाव, और लाख रुपये का अभाव बराबर है। १०=५० यह गलत है परन्तु १०×०=५०×०=१०००×० । सृष्टि-क्रम इसका पोषक नहीं है। हर कार्य के लिए कारण चाहिये और निश्चित कारण चाहिए। बर्फ पानी से बनेगी, रेत से नहीं। इसलिए वेदने कहा 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे'। सृष्टिके पहले शून्य नहीं था। "हिरण्यगर्भ" था। इसीको आगे "भूतस्य पतिः" कहाहै। हिरण्यगर्भ किसको कहते हैं ? 'हिरण्य' का अर्थ है 'सोना'। गर्भ का अर्थ है

'अण्डा'। 'हिरण्यगर्भ' का अर्थ हुआ 'सोने का अण्डा'। पुराण आदि ग्रंथों में जैसे अन्य शब्दों के विषय में गप्प कथायें प्रसिद्ध हो गई हैं जैसे इन्द्र या गणेश या महादेव के सम्बन्ध में। इसी प्रकार 'हिरण्यगर्भ' के विषय में भी कपोल-कल्पित गप्पें हैं। प्रजापति का सोने के अन्डे से उत्पन्न होना पुराणों की गप्प है। क्या सृष्टि से पहले सोना था और सोने का अन्डा कैसे बना ? हिरण्यगर्भ के विषय में पुराणों की गाथाओं पर कुल दार्शनिकों ने सूक्ष्म कल्पनाये कीं और वेदान्तियों ने सूत्रात्मा या सूक्ष्म शरीर वाले प्राणात्मा को प्रजापति कहकर पुकारा और उससे सृष्टि की उत्पत्ति की।

हम कह चुके हैं कि हर कार्य के लिए नियत कारण चाहिए। प्रत्येक कार्य के तीन कारण होते हैं। उपादन, निमित्त और साधारण। साधारण कारण का अर्थ यह है कि वह सब कार्यों में समान्य हो, विशेष न हो। जैसे काल और देश। कोई कार्य बिना देष या काल के संभव नहीं। परन्तु एक ही देश और एक ही काल में लाखों कार्य होते हैं। देश और काल उन कार्यों में कोई विशेषता उत्पन्न नहीं करते। दूसरा निमित्त कारण है जैसे घड़े का कुम्हार या अंगूठी का सुनार। परन्तु केवल कुम्हार घड़ा नहीं बना सकता। घड़े के निर्माण के लिए 'मिट्टी' (उपादान कारण) चाहिए। कुछ लोग कहते हैं कि सृष्टि से पहले केवल एक ईश्वर या खुदा था। और कुछ न था : उसी ने कहा "कुन् (होजा)" और सृष्टि उठ खड़ी हुई। वेद मंत्र में यह नहीं कहा कि केवल प्रजापति ने इच्छा मात्र से भूत या जगत् उत्पन्न कर दिया। उसके लिए एक विशेष नाम दिया है हिरण्यगर्भ। स्वामी दयानन्द ने इसका अर्थ किया है वह सत्ता जिसके गर्भ में प्रकाशक पदार्थ बीज रूप में थे। 'गर्भ' 'गृह' का ही रूपान्तर है। जैसे बच्चा पिता और माता के शरीर रूपी गर्भ रूप से विद्यमान होता है वही उत्पत्ति या जन्म के समय 'प्रजा' (सन्तान) के रूप में

आविर्भूत होता है। प्रजा के उत्पन्न होने से पिता 'प्रजापति' हो जाता है। पिता स्वयं पुत्र नहीं होता। यदि पिता के गर्भ में पुत्र का आत्मा न आता तो न प्रजा होती न प्रजापति। इसी प्रकार प्रजापति के गर्भ में सृष्टि का बीज रूप विद्यमान था। अर्थात् सृष्टि के पहले 'हिरण्यगर्भ' था। बिना उपादान के केवल निमित्त से उत्पत्ति मानने में भी "उदासीनानामपि चैव सिद्धिः" का आक्षेप बना रहता है। यदि सुनार बिना सामान के हर आभूषण बना सके तो वह सुनार न होगा, जादूगर होगा। सृष्टि-क्रम में जादूगर को कोई स्थान नहीं है। जादूगर मूर्खों की आंख में धूल डालने के लिए होते हैं। परमात्मा ने बिना उपादान के न कभी सृष्टि बनाई न आज बनाता है। आज भी ईश्वर की सृष्टि में पानी से भाप और भाप से बादल बनते हैं। रेत से बादल नहीं बनते और न बिना पानी के बनते हैं। ईश्वर आज भी वैसा ही सर्वशक्तिमान है जैसा सृष्टि के पहले था। इसीलिए वैशेषिकदर्शन में कहा है "कारणाभावत् कार्य्याभावः (वैशेषिक-दर्शन १-२-१)। उपादान कारण के बिना कार्य हो ही नहीं सकता। 'हिरण्यगर्भ' कहने मात्र से सिद्ध हो गया कि जो सत्ता प्रजा के उत्पन्न करने के कारण प्रजापति कहलाई वह हिरण्यगर्भ थी। अर्थात् 'हिरण्य' या प्रकाश वाले पदार्थ बीज रूप में (अविकसित रूप में) उसके गर्भ में थे। 'समवर्तत' का अर्थ है 'विद्यमान' था (सत्ता वाला था। अभाव रूप न था)। वह "भूतस्य जातः पतिः आसीत्"। वह भूतपति और सृष्टि-रूपी जगत् का पालक था। यहाँ 'पति' का अर्थ है पालक या पिता। 'प्रजापति' का अर्थ है "प्रजा-पति' लौकिक समाज में पति और पिता में भेद होता है। परन्तु प्रजा का अर्थ तो सन्तान ही है। अतः 'प्रजापति' का अर्थ होगा" प्रजापिता"।

नवीन वेदान्तियों का कहना है कि केवल ब्रह्म से ही बिना उपादान या प्रकृति के ही सृष्टि उत्पन्न होती है। उसकी नक़ल ईसाई मुसलमानों ने की है, कुछ भोंडे रूपसे। नवीन वेदान्ती दार्शनिक थे।

मुसलमान ईसाई अदार्शनिक। अतः जहाँ नवीन वेदान्तियों ने माया, अविद्या आदि की कल्पनाये कीं, वहाँ मुसलमान, ईसाईयों ने केवल खुदा की सर्वशक्तिमत्ता का आश्रय लेकर ही मान लिया कि ईश्वर सभी कुछ कर सकता है। परन्तु यह थी निराधार कल्पना। वेदान्तियों ने कहा कि ब्रह्म निमित्ताभिन्नो-पादान कारण है। अर्थात् निमित्त कारण भी है और उपादान भी। इतना तो ठीक है कि ब्रह्म एक ऐसा निमित्त कारण है जो उपादान कारण से पृथक् या दूर नहीं है। उसके और उपादान के बीच में कोई व्यवधान नहीं है। परन्तु निमित्त और उपादान में अनन्यत्व नहीं है। उपादान परिणामी होता है। निमित्त परिणामी नहीं होता। वह उपादान और उपादेय दोनों का पालक और पोषक होता है। उपादान भिन्न-भिन्न होते हैं। जिस सोने से अंगूठी बनी है, उसीसे उसी समय हार नहीं बन सकता। परन्तु सुनार वही हो सकता है।

ऐसे प्रजापति या भूतपति को एक कहा गया। 'एक' शब्द पर विशेष बल है। वेद एक-ईश्वरवादी है। अनेक ईश्वरवादी नहीं। अनेक ईश्वरों की कल्पना पौराणिक है। और इसी कल्पना केप्रति-वाद स्वरूप मुसल्मान तथा ईसाई लोगों की कल्पना है कि एक-ईश्वरवाद के जन्मदाता वही हैं। वेद इस कल्पना का खण्डन करता है। एक-ईश्वरवाद का मूल तो वेद हो था। सृष्टि को अंग्रेजी में 'यूनीवर्स' (Universe) कहा अर्थात् समस्त सृष्टि एक है। इसके सभी कानून एक हैं, अनेक नहीं। दो और दो मिलकर हर जगह और हर काल में चार ही होंगे। यदि ऐसा न होता तो वह यूनीवर्स (Universe) न होकर मल्टीवर्स (Multiverse) कह-लाती है। उपादान भिन्न होते हुए भी 'कर्त्ता' एक ही है। वह सृष्टि न केवल बनाता है अपितु उससे अलग नहीं होता। वह प्रभु की विशेषता है। कुम्हार मिट्टी से अलग था। घड़ा बनाकर अलग हो

जाता है। वह उत्पादक है पालक नहीं। इसी लिए वह भूतों का पति नहीं। ईश्वर पति है। अर्थात् जिस सृष्टि को उसने रचा है उसको रचकर वह कहीं अलग नहीं जा बैठा और न उसका पालन उसने छोड़ दिया है। जो सृष्टि बीज-रूप में उसके गर्भ में थी, वह अब भी उसी के आधार पर ठहरी हुई है। "सदाधार पृथ्वीं उतइमां द्याम्।" वह आज भी इन सबको धारण किए हुए है।

"कस्मै देवाय हविषा विधेम।" यहां 'कस्मै' का अर्थ है 'एकस्मै।' वेद में 'ए' शब्द का लोप हो गया है। अर्थात् हम उसी एक देव की उपासना करें। किसी दूसरे को अपना ईश्वर न मानें।

'कस्मै देवाय हविषा विधेम' में 'कस्मै' के प्रायः तीन अर्थ किए गये हैं। तीनों अर्थ ही व्याकरण के अनुसार समीचीन हैं। परन्तु प्रकरण के विचार से मुझे एक सब से अच्छा जंचा। उससे बहुत कम लोग परिचित हैं। इसलिए यहाँ कुछ विस्तार से लिखा जा रहा है। तीनों अर्थों पर विचार कीजिए।

(१) कस्मै' शब्द 'किम्' सर्वनाम का चतुर्थी एक वचन है। 'किम्' प्रश्न-वाचक है। 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' का अर्थ हुआ "किस देव की उपासना की जाय?" यह वाक्य ऋग्वेद के हिरण्य-गर्भ सूक्त में १० ऋचाओं में से पहली ९ ऋचाओं के अन्त में आया है। इस पक्ष के लोगों का कहना है कि अन्त के वाक्य में प्रश्न उठाया कि किसकी उपासना की जाय। और मंत्रों के पूर्व भाग में उत्तर दिया अर्थात् उपास्य देव के लक्षण बताये, वह बात सर्वथा अनुचित तो नहीं है। वेदों में इसके प्रश्नों की शैली विद्यमान है। परन्तु सभी मंत्रों में लगातार प्रश्न को दुहराना कुछ कम जंचता है। यदि 'कस्मै' के साथ 'चित्' लगाकर 'कस्मैचित्' कर दिया जाय तो

'चित्' अनिश्चितता का बोधक होने से सर्वथा अमान्य हो जाता है।

(२) 'क' का अर्थ है सुखस्वरूप। 'क' अकारान्त संज्ञा है। राम के समान। 'क' का चतुर्थी 'काय' होना चाहिए। वेद में बहुल होने से 'कस्मै' रूप भी बन गया। अर्थात् सुखस्वरूप ईश्वर की हम उपासना करें। निरुक्त और शतपथ दोनों इस अर्थ की पुष्टि करते हैं। 'क' प्रजापति का नाम भी है। परन्तु अकारान्त संज्ञा के चतुर्थी विभक्ति में 'स्मै' आदेश के उदाहरण वेद में अन्यत्र पाये नहीं जाते। ईश्वर के शुभ गुण तो अनन्त हैं। 'सुखस्वरूप' भी एक विशेषण है। परन्तु इसे बार-बार दुहराया क्यों गया? आक्षेप अपरिहार्य तो नहीं है। अतः यह व्याख्या अनुचित नहीं कही जा सकती। फिर भी 'प्रकरण' पूर्णरूपेण संतोष-प्रद नहीं है।

(३) शबर स्वामी ने पूर्वमीमाँसा के भाष्य में (देखो अध्याय १०, पाद ३, सूत्र १३-१७) 'हिरण्यगर्भ' इति मंत्र की व्याख्या करते हुए उपर्युक्त अर्थ के साथ एक अर्थ यह भी किया है कि 'कस्मैदेवाय' का अर्थ है 'एकस्मै'। यहाँ छाँदस 'ए' का लोप हो गया है। वेद में इस प्रकार के लोपों के उदाहरण बहुत मिलेंगे। 'एकस्मै देवाय' में कोई व्याकरण की खींचातानी भी नहीं, क्योंकि 'एक' सर्वनाम है। और अर्थ यह हुआ कि केवल एक ईश्वर की ही उपासना है। कई देवी-देवताओं की नहीं, इस अर्थ का गौरव इस सूक्त के कई शब्दों से विदित है। सूक्त के अन्त का मंत्र है "प्रजापते न त्वद्" इति। इसमें "न अन्यः" ऐसा शब्द आया है, "कोई और नहीं"। अर्थात् प्रजापति के एकत्व पर बल है। इस सूक्त के अन्य मत्रों में भी 'एक' शब्द कई बार दुहराया गया है। मंत्रों के पहले चरणों में सूर्य आदि 'हिरण्यों' अर्थात् प्रकाश वाले पदार्थों के नाम गिनाये हैं जिनको उपास्य देव नहीं माना। इस विशेषता को दिखलाने के

लिए भी 'एकस्मै देवाय' कहना उचिततम प्रतीत होता है। साधारण पुरुषों के हितार्थ भी यही व्याख्या अधिक उपयुक्त है क्योंकि प्रायः अविद्यावश लोग कई ईश्वरों को मान बैठते हैं और सुधारक उपदेष्टाओं के निरन्तर-परिश्रम करने पर भी यह बहु-ईश्वरवाद का रोग बार-बार लौट आता है। अतः वेद में अति प्राचीन काल से इस पर बल दिया जाना सर्वथा उचित ही है। एक ईश्वरवाद वेद का मुख्य और मौलिक सिद्धान्त है।

'हविषा'। (तृतीयान्त)। हविष् 'हु' धातु से बना है। उपासना की समस्त सामग्री का नाम 'हविः' है। भौतिक हो या अभौतिक' शारीरिक हो या मानसिक। प्रजापति की उपासना मन, वचन और कर्म तीनों साधनों द्वारा होनी चाहिए। हमारा मन उपास्यदेव के गुणों के मनन करने में लगा हो। वाणी से मन्त्रों को बोलें। और कर्म शुभ करें। इनमें से बहुत से कर्मों का उल्लेख मंत्रों के कई वाक्यों में आया है।

इस प्रकार मंत्र में इतनी बातें दी हुई हैं :—

(१) सृष्टि के पूर्व ईश्वर था। (२) ईश्वर हिरण्यगर्भ अर्थात् उपादान से युक्त था। (३) उसने सृष्टि बनाई और अब भी धारण कर रहा है। (४) वह एक ही है। कई नहीं। (५) उसी की उपासना करनी चाहिए। अन्य किसी की नहीं।

वेद कहता है—

सनो बन्धुर्जनिता सविधाता।

यजु० ३२।१०

वह परमेश्वर हम सब का भाई पिता और धारण करने वाला है।

God is our friend our father and our supporter and protector.

५१ कर्म गौरव

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति, न कर्म लिप्यते नरे ॥

(यजुर्वेद अध्याय ४०, मन्त्र २)

अन्वय—इह कर्माणि कुर्वन् एव शतं समाः जिजीविषेत्। एवं त्वयिनरे न कर्म लिप्यते इतः अन्यथा न अस्ति।

अर्थ—(इह) इस संसार में (कर्माणि) कर्मों को (कुर्वन् एव) करते हुए ही मनुष्य (शतं समाः) सौ वर्ष तक (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे। (एवं) यही एक साधन है जिसके द्वारा (त्वयि नरे) तुझ मनुष्य में कर्म लिप्त न होंगे। (इति अन्यथा) इससे भिन्न दूसरा कोई नहीं (न अस्ति) नहीं है।

व्याख्या—इस मंत्र में 'कर्म का गौरव और महात्म्य दिखाया गया है। विस्तृत व्याख्या करने से पहले मुख्य भावना को समझने का यत्न करना चाहिए। जब एक बार भावना हृदयंगम हो जाती है तो अन्य तत्सम्बन्धी बारीक बातें समझने में सुगमता होती है। मुख्य भावना यह है—"कर्म करो तभी कर्म के बन्धनों से छुटकारा मिलेगा।" कर्म क्या है और कर्म का बन्धन क्या है। इसके लिए एक दृष्टान्त पर विचार कीजिए। एक चोर ने चोरी की। चोरी एक कर्म था। शासन की ओर से उसे कारागार मिला। यह कारागार ही कर्म का बन्धन है। "बाधना लक्षणं दुःखम्", (न्यायदर्शन १,१,२१)। बन्धन ही दुःख का लक्षण है। कैदी जेल में बन्द है। यह "बन्धन" वह नहीं चाहता फिर भी चक्की

पीसनी पड़ती है। यह बन्धन है। कहीं जा-आ नहीं सकता, यह कर्म का बन्धन है। किसी अपने प्यारे से मिल नहीं सकता यही बन्धन है। यह सब कर्म के बन्धन हुए। कर्म था चोरी। कर्म के बन्धन हुए वह कर्म जो बिना इच्छा के जबरदस्ती करने पड़ते हैं। वेद मन्त्र कहता है कि इन कर्म के बन्धनों से छुटकारा पाने के लिए भी निरन्तर कर्म करने चाहियें। उन कर्मों का प्रकार भिन्न होगा। उनकी प्रकृति भी भिन्न होगी। उनके लक्षण भी भिन्न होंगे परन्तु वह होंगे 'कर्म' ही। कर्म के बन्धन बिना कर्म किए नहीं छूट सकते। अनाचार दोष से रोग उत्पन्न होता है। उपचार से रोग दूर होता है। अनाचार भी कर्म था। जिसका बन्धन हुआ रोग। उपचार भी कर्म है परन्तु भिन्न प्रकार का इसलिए वह 'बन्धन' का छुड़ाने वाला है, बन्धन को कड़ा करने वाला नहीं।

यह प्रश्न केवल दार्शनिक नहीं। लोक-व्यवहार की नित्य की चीज है। हम रोज तकदीर और तदबीर की बहस सुनते हैं तकदीर बन्धन है और तदबीर कर्म है। जीवन में हम सैकड़ों बन्धन देखते है जिनको हमने नहीं बनाया। वह बन्धन कहीं से बने बनाये आ गये। जेल के विशाल भवन को चोर ने नहीं बनाया। किसी और शक्ति ने जबरदस्ती उसके ऊपर यह बन्धन थोप दिये। वह जकड़ा है। जैसा तकदीर में दिया है, होगा। इससे छुटकारा नहीं कुछ लोग कहते हैं कि खुदा (ईश्वर) जो चाहता है करता है; जिस को चाहता है सन्मार्ग दिखाता है, जिसको चाहता है 'गुमराह' करता है। अल्लाह की मर्जी के विरुद्ध हो भी क्या सकता है? सरकार जबरदस्त हैं, उसने मजबूत जेलखाना बनाकर उसमें चोर को ठूंस दिया। कितनी ही भागने की तदबीर करो भाग नहीं सकते। इसलिए उस घड़ी की प्रतीक्षा करो जब ईश्वर की मर्जी हो और वह बन्धन से मुक्त कर दे। ऐसे तकदीर के गुलामों की संख्या ईश्वर भक्तों में सबसे अधिक है। इसका परिणाम हैं 'आलस्य' क्रियाहीनता। आलस्य के साथ इसी के बहुत से बाल-बच्चे हैं जो

अन्य रूपों में प्रकट होते हैं और बन्धनों को जोड़ते है। कुछ ऐसे भी हैं जो बन्धन से छूटने के लिए हाथ-पैर मारते हैं। कोई जेल की दावार फाँदकर भागता है। कोई खिड़कियों की छड़ों को तोड़ देता है कोई चौकीदारों की आँखों में धूल डलता है। इसको आप तदबीर कह सकते हैं। तदबीर के नाम पर सहस्रों पातक किये जाते हैं, जिनसे बन्धन ढीले नहीं होते अधिक कड़े हो जाते हैं। यह 'तदबीर' थी तो कर्म, परन्तु यह सोचकर नहीं किये गये थे कि बन्धन के कारणों पर विचार किया जाता। अतः ऐसे कर्म छुटकारे के हेतु सिद्ध नहीं होते।

कर्म करना मनुष्य का स्वभाव है। कर्म करना सँसार की हर वस्तु का स्वभाव है। मनुष्य भी इसी संसार का एक भाग है। सारी मशीन चलती है तो ऐसा कौन-सा पुर्जा है जो बिना चले रह सके। लेकिन एक काम इच्छा से किया जाता है और एक बिना इच्छा के। जीते तो सभी हैं परन्तु जीकर क्या करेंगे ऐसा तो बहुत कम लोग सोचते हैं। इसीलिए वेदमंत्र में एक शब्द आता है। 'जिजीविषेत्'। इस रहस्य का सौन्दर्य समझने के लिए कुछ संस्कृत व्याकरण का परिभाषिक ज्ञान आवश्यक है। यह क्रिया है विधिलिङ्'। और साथ ही 'सन्नन्त' भी है। जिनको 'विधिलिग्' और सनन्त के स्वरूप का ज्ञान नहीं उनके लिए मंत्र का महत्त्व समझने में कठिनाई होगी। "विधि-निमंत्रण-आमंत्रण-अधिष्ट-सप्रसंग-प्रार्थनेषु लिङ्" (अष्टाध्यायी ३-३-१६१) यहां लिङ्' लकार विधि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् जब किसी को आदेश देते हैं कि उसको अमुक काम करना ही चाहिए तो 'लिङ्' लकार का प्रयोग किया जातः है। अब 'सन्नन्त' (सन्+अन्त) पर विचार कीजिए 'धातोः कर्मणः समान-कर्तृकात् इच्छायाँ वा" (अष्टाध्यायी ३-१-७)। यहाँ इतना जानना पर्याप्त होगा कि जहाँ 'इच्छा' प्रकट करनी हो वहाँ क्रिया की धातु में 'सन्' जोड़ देते हैं। इस प्रकार

जिजीविशेत् विधिलिङ् भी है और 'सन्नन्त' भी अर्थात् मनुष्य को चाहिए कि जीने की इच्छा करे। किस प्रकार "कर्माणि कुर्वन् एव', (कर्म करते हुए ही) बिना कर्मों को करने की इच्छा के जीने की ईच्छा से कोई लाभ नहीं। यदि कुदरत को यह मंजूर न होता कि हम चले तो हमको पैर न मिलने चाहिए थे। यदि यह मंजर न होता कि हम देखें तो आँखें देना निरर्थक था। इसलिए कुदरत नें हमारे शरीर के प्रत्येक अवयव में कुछ ऐसी प्रेरणा दी हुई है कि निरन्तर काम करना ही है। भेद केवल इतना ही है कि जो काम हम अपनी इच्छा से करते हैं उसके करने में मजा आता है। लोग नित्य सैर को जाते हैं। यदि सरकार आदेश दे देवे कि तुम को अवश्य ही सैर को जाना पड़ेगा तो सैर भी जान का वबाल हो जाती है। इसलिए वेदमंत्र में उपदेश है कि पहले ही से ही ऐसी इच्छा करो कि सौ वर्ष जीना है तो निष्क्रिय न होकर अपितु कार्यक्रम बनाकर निरन्तर कर्म करने की योजना भी हो और इच्छा भी। सभी जीते रहना चाहते हैं। उनसे पूछो "क्यों? किस काम के लिए?" तो इसका उनके पास कोई उत्तर नहीं है। यदि दो वर्ष और जीते रहो तो क्या करोगे? विचारा नहीं। "बस खायेंगे, पीयेंगे, मौज करेंगे।" खाना-पीना और मौज करना कर्म तो नहीं। यह तो जीवन के साधन मात्र हैं। खाना आसान है, पीना आसान है। परन्तु मौज करना तो आसान नहीं। ("Eat you can, drink you can. But you cannot be merry") इसलिए कर्म करने की प्रबल इच्छा होनी चाहिए। जो बुद्धिमत्ता से कर्मों की योजना बनाता है और उस पर चलने का यत्न करता है उसका बन्धन छूट जाता है। जेल का कैदी जेल में रहकर जो नियुक्त कर्म करता रहता है वह जेल के बन्धन से अवश्य छूट जाता है। कर्मों के करने में तीन प्रकार के दोष आ सकते हैं। कर्तव्य को न करना, अकर्तव्य का करना, कर्तव्य का उलटा करना। इन तीनों प्रकार के दोष कर्म-

बन्धन के कारण होते हैं। यदि गेहूँ न बोये जायें तो गेहूँ पैदा न होगा, उगे हुए गेहूँ में अधिक पानी देना, इससे गेहूं उत्पन्न होकर नष्ट हो जायेंगे और गेहूं के स्थान में जौ बो देना, तब भी गेहूं पैदा न होगा। अतः कर्तव्य कर्म के करने पर ही बन्धन छूटेगा। गीता में इसी वेद मन्त्र पर आधारित एक श्लोक है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन
मा कर्मफल हेतुर्भूः मा ते संगोस्त्वकर्मणः।

यहाँ अधिकार का अर्थ है कर्तव्य। अधिकार, अधिकरण यह दोनों समानार्थक हैं। सूत्र ग्रंथों में अधिकार सूत्र वह होते हैं जिनमें अन्य सूत्रों का समावेश होता है। गीता के श्लोक का तात्पर्य यह है कि कर्म ही मनुष्य के चिंतन क्षेत्र का विषय या अधिकरण है फल नहीं। इसका यह अर्थ करापि नहीं कि बिना सोचे-समझे अर्थात् किस कर्म से क्या फल होगा, किसी काम को कर दिया जाय। कर्म की प्रेरणा ही उसके फल की दृष्टि से होती है। गेहूं बोने वाला पहले देख लेता है कि गेहूं उगाने रूपी फल की प्राप्ति तभी होगी जब गेहूं बोया जायगा। "स्वर्गकामोयजेत" अर्थात् स्वर्ग की कामना वाले को यज्ञ करना चाहिए। यहाँ फल की न उपेक्षा है न अवहेलना। प्रश्न यहाँ चिन्तन का है। जब यह निश्चित हो गया कि अमुक कर्म हमारा कर्तव्य है तो फल का चिन्तन छोड़ देना चाहिए। फल की प्रेरणा आरम्भ में होती है। परन्तु यदि कर्तव्य-पालन के समय मन में फल की उत्कण्ठा बनी रहेगी तो मन में दुविधा उत्पन्न हो जायगी और कर्तव्य के यथेष्ट पालन में बाधा होगी। कर्म का फल तुम्हारे हाथ में नहीं अतः फल का अपने को हेतु समझना मूर्खता होगी। इसके लिए एक दृष्टान्त लीजिए।

आप सरकारी दफ्तर में क्लर्क हैं। आपने पद को स्वीकार ही तब किया जब आपको निश्चित हो गया कि अमुक वेतन मिलेगा। परन्तु जब आप अपने काम में लगे तो 'वेतन' आपके चिन्तन क्षेत्र का विषय नहीं रहा। कार्यालय का कार्य ही एकमात्र चिन्तन का

विषय है, वेतन आपके शासक के चिन्तन का विषय है। अतः जो सेवक सेवा का ध्यान छोड़कर हर घड़ी वेतन पर दृष्टि रखता है वह अपने पद का काम न करके अनेक भूलें करता है। क्योंकि वह कर्म का हेतु न होकर कर्मफल का हेतु बन जाता है। गीता में कहा है कि तेरा अकर्म से सम्पर्क न होना चाहिये। कर्महीनता का नाम भी अकर्म है और उलटे काम का नाम भी अकर्म है। (अकर्म = अ + कर्म = जो कर्म नहीं उसको करना। या जो कर्म है उसको न करना)।

कुछ लोगों ने इस मन्त्र के उलटे ही अर्थ लगाये हैं। उनका कहना है कि इस मन्त्र में जिन कर्मों पर बल दिया गया है वह केवल मूर्खों के लिए हैं। जो ज्ञानी हैं उनके लिए तो कर्म की आवश्यकता ही नहीं रहती। श्री शंकराचार्य जी ईशोपनिषद् के भाष्य में लिखते हैं : "अथ इतरस्यानात्मज्ञतया आत्मग्रहणाय अशक्त स्येदमुपदिशति मन्त्रः कुर्वन्नेवेहेति।" अर्थात् इस मन्त्र में केवल उन लोगों के लिए उपदेश है जो अनात्मज्ञ हैं अर्थात् जिनको आत्मज्ञान नहीं हुआ और जो अशक्त अर्थात् सामर्थ्यहीन हैं। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह निकला कि वेद में जहां कहीं कर्मों का गौरव दर्शाया गया है वह केवल मूर्ख अशक्तों के लिए है। जो विज्ञ हैं वह कर्मों की कर्तव्यता से ऊपर हैं। इस पर शांकर मत में ज्ञान काण्ड को कर्मकाण्ड से पृथक् कर दिया गया और ब्रह्मज्ञों के मन में कर्म की अवहेलना बैठ गई। इसी मंत्र की व्याख्या के अन्त में श्री शांकर भाष्य में एक प्रश्न उठाया है—कथं पुनरिदमवगम्यते पूर्वेण सन्यासिने ज्ञाननिष्ठोक्ता द्वितीयेन तदशक्तस्य कर्मनिष्ठेति।

अर्थात् यह कैसे ज्ञात हुआ कि पहले मन्त्र "इशावास्य" से संन्यासी की ज्ञाननिष्ठा और दूसरे मन्त्र "कुर्वन्ने" से ज्ञान की सामर्थ्य से अशक्त की कर्मनिष्ठा अभिप्रेत है ? वस्तुतः यह प्रश्न तो समीचीन ही था कि वेद के इन दोनों मन्त्रों में से किसी शब्द से यह विदित

नहीं होता कि पहला मन्त्र ज्ञानियों के लिए है और दूसरा अनात्मज्ञ के लिए। परन्तु भाष्यकार ने इसका यह उत्तर दिया है—"उच्यते, ज्ञान कर्मणोर्विरोधं पर्वत वदकम्पां यथोक्तेन स्मरसि किम् ।" क्या तुम को हमारी यह बात याद नहीं रही कि ज्ञान और कर्म का परस्पर विरोध तो पहाड़ के समान अकम्प या अटल हैं। वस्तुतः यह शंका का समाधान नहीं समाधानाभास मात्र है। ज्ञान और कर्म परस्पर विरोधी नहीं अपितु एक दूसरे के पूरक हैं। ज्ञाननिष्ठ ही कर्मनिष्ठ हो सकता है। और ज्ञाननिष्ठ ही "माते संगोऽस्त्वकर्मणः" का पालन कर सकता है। जो ज्ञानी नहीं वह कर्मनिष्ठ कैसे होगा। गीता के भक्त भी तो यही कहते हैं कि भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को अकर्म की भावना से मुक्त करने और कर्मनिष्ठ बनाने के लिए गीता का उपदेश किया था। जिनमें कर्म की निष्ठा है वह अज्ञानी नहीं हैं। जो ज्ञान से शून्य हैं वे कर्म निष्ठ कैसे होंगे। भगवान् ने हमारे शरीर में ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ दोनों ही हैं। वे एक दूसरे के पूरक हैं विरोधी नहीं। और न उनका विरोध पर्वत के समान अटल है। जब ज्ञान और कर्म में पर्वत के समान अकम्प विरोध हो उठता है और मस्तिष्क तथा हाथ-पैर एक दूसरे के विरोधी हो जाते हैं तो इसको पागलपन की दशा ही कहते हैं। ज्ञान और कर्मेन्द्रियों का परस्पर विरोध केवल पागलों में मिलता है, ज्ञानियों में नहीं। इस प्रकार के निराधार और काल्पनिक भाष्य वैदिक संस्कृति के ह्रास के कारण ही सिद्ध हुए हैं। यह वेदमन्त्रों के आशय को न समझने अथवा कल्पित भावनाओं के अध्यारोप के कारण हुआ है। वस्तुतः यह वेदमन्त्र कर्म के गौरव को बताता है और स्पष्ट शब्दों में कहता है कि यथेष्ट कर्मों की इच्छा करके जीना और उन कर्मों का यथा-विधि पालन करना सब कर्म के बन्धनों के छुटकारे का साधन होगा।

यहाँ एक बात स्पष्ट कर देनी चाहिए। 'कर्मकाण्ड' के अर्थों में

भी बहुत कुछ विकार हुआ है। श्री शंकर स्वामी के समय में कर्म-काण्ड का केवल यही अर्थ लिया जाता था कि यज्ञों के विषय में प्रचलित कुछ क्रियायें करना, जैसे पात्र साफ करना, वेदी बनाना, अमुक मन्त्र पढ़कर चावल निकालना या पकाना या अमुक मन्त्र पढ़कर अमुक आहुति देना। यह कर्मकाण्ड का संभव है कि किसी अंश तक बाह्यरूप रहा है परन्तु यह वास्तविक कर्मकाण्ड नहीं है। केवल हल को एक मन्त्र पढ़कर उठा लेने का नाम कृषि कर्म नहीं है और न व्यापार-सम्बन्धी किसी मन्त्र के पढ़ देने का नाम व्यापार है। कितनी समिधा कितनी बड़ी हो यह कर्मकाण्ड नहीं। सम्भव है कि वेदानुयायी को ऐसे निरर्थक कृत्यों से बचाने के लिए ही शंकर स्वामी ने इस प्रकार के तर्कों का प्रयोग किया हो क्योंकि उस युग के कुमारिल भट्ट या मण्डन मिश्र आदि ऐसे ही कर्मकाण्ड के प्रचारक थे। और महात्मा बुद्ध आदि नें इसी जाल से मनुष्यों को सुरक्षित रखने के लिए वेदों का विरोध किया था। परन्तु यह तो कल्पित उपचार था जिसने एक रोग दूर करने के लिए दूसरा रोग उत्पन्न कर दिया। कर्म के जाल से छूटने के प्रयत्न ने लोगों को नास्तिक बना दिया। कर्मकाण्ड के जाल से छूटे तो मायाजाल के शिकार हो गये। इससे कर्म का बन्धन तो नहीं छूटा। कर्म (वैदिक कर्म) अवश्य ही छूट गये। देश निरुद्यम हो गया। कर्म और ज्ञान के बीच अकम्प पर्वत खड़ा हो गया। परन्तु यह पर्वत भाष्यकारों की कल्पना का फल है। कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड के बीच से इस व्यवधान को हटाने की आवश्यकता है और यह बात केवल यथेष्ट स्वाध्याय से ही पूरी हो सकती है।

५२ हे वरुण !

यत् किं चेदं वरुण दैव्ये जने अभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि ।
अचित्ती यत् तव धर्मा युयोपिम मानस्तस्मादेनसो देव रीरिषः ।

(ऋग्वेद मंडल ७, सूक्त ८९, मंत्र ६)

अन्वय : हे वरुण देव ! (वयं) मनुष्याः दैव्ये जने यत् किं च इदं अभिद्रोहं चरामसि, यत्तव धर्म अचित्ती (अचित्त्या) युयोपिम, तस्मात् एनसः नः मा रीरिषः ।

अर्थ : (वरुण देव) हे जीवों के कर्म-फल की व्यवस्था करने वाले वरुण देव, परमेश्वर (वयं मनुष्याः) हम संसार के साधारण मनुष्य (दैव्ये जने) विद्वान तथा धर्मात्मा जनों के प्रति (यत् किं च इदं अभिद्रोहं) जो कुछ थोड़ा सा भी विरोध या द्रोह (चरामसि) करें, (अचित्ती = अचित्त्या) वह सब बिना समझे ही (तव धर्म—धर्मान् आपकी व्यवस्थाओं का (युयोपिम) विरोध हमसे हो जाता है । (तस्मात् एनसः) उस पाप से (नः) हम लोगों को (मा रीरिषः) हानि न पहुँचाइये ।

व्याख्या:—वेद में परमात्मा को बहुत से नामों से सम्बोधित किया गया है । नाम रखने में तीन बातों का ध्यान रहना चाहिये । नाम रखने वाला अर्थात् वह जो पुकारे । दूसरा, जिसको पुकारा जाय अर्थात् नामी । तीसरा 'नाम' अर्थात् वह शब्द जिसके द्वारा पुकारा जाय । जब हम परमात्मा को पुकारते हैं तो उसके लिए किसी एक शब्द का प्रयोग करते हैं हम परमात्मा को क्यों पुकारते हैं ? किसी अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए। याज्ञवल्क्य ने इसी अभिप्राय से मैत्रेयी से कहा था:—'**नवाअरे पत्युः कामाय पतिः**

यिप्रो भवति, आप्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति.........न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्ति आत्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति.........न वा अरे सर्वस्व कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' इत्यादि (देखो वृहत् उपनिशत् २-४-५)

अर्थात् कोई जब किसी को प्यार करता है तो अपने लिए करता है दूसरों के लिए नहीं। चाहे पति हो, पत्नि हो, पुत्र हो, वेद हो, ईश्वर हो या कोई और चीज हो। इसलिए जब हम ईश्वर को याद करते हैं तो अपने लिए, न कि ईश्वर के लिए। इसलिए नाम लेने वाला 'नाम' के द्वारा अपनी कमी की सूचना देता है। बीमार अपनी बीमारी को दृष्टि में रखकर वैद्य को वैद्य कहकर पुकारता है। अर्थात्—'वैद्य' नाम इस बात का सूचक है कि वैद्य नाम का प्रयोग करने वाला स्वयं कोई इच्छा रखता है। इसी प्रकार वैद्य नाम उसका है जिसमें पुकारने की उस कमी को पूरा करने का सामर्थ्य हो। संभव है कि वैद्य में बीसियों और भी गुण हों। वह अच्छा गायक भी हो, कवि भी हो, धनाढ्य भी हो। परन्तु बीमार को वैद्य के अन्य बीसियों गुणों से प्रयोजन नहीं, अतः सिद्ध हुआ कि 'नाम' वह शब्द है जो पुकारने वाले की कमी (त्रुटि और जिसको पुकारा जाय उसमें उस त्रुटि को दूर करने का सामर्थ्य जताता है। जब वेद ने कहा "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति") ऋग्वेद १।१६४।४६) तो इसका तात्पर्य यह है कि प्रभु में बहुत से गुण हैं। विद्वान् जीवों में अपनी बहुत सी त्रुटियों की अनुभूति है। विद्वान् लोग दो बातों की अनुभूति को दृष्टि में रखकर ईश्वर का नाम लेते हैं। प्रथम तो अपनी कमी की अनुभूति, दूसरी इस बात की भी अनुभूति कि प्रभु में उस कमी पूरा करने का सामर्थ्य है।

इस वेदमंत्र में प्रभु को **'वरुण'** कहकर पुकारा। प्रभु में तो वरुणत्व के अतिरिक्त सहस्रों गुण हैं, परन्तु प्रार्थना के प्रसंग में केवल दो बातें मुख्य हैं; पहली तो अपनी अल्पज्ञता अथवा अज्ञानता

के कारण अपनी उच्छृंखलता अर्थात् कर्त्तव्य को न करना अकर्त्तव्य को कर बैठना अथवा किसी काम को यथेष्ट रीति से न करना। दूसरी ईश्वर की अटल व्यवस्था पर विश्वास। वरुण का अर्थ है सम्यग् व्यवस्था करने वाला। जैसे राज में पुलिस के जाल बिछे रहते हैं जिनसे निकल भागने में कोई अपराधी सफल नहीं हो पाता, इसी प्रकार वरुण देव के शासन के जाल बिछे हुये हैं जिनसे कोई अपराधी या पापी भाग नहीं सकता। जैसे पुलिस के जाल में प्रजा के हित के लिए हैं उसी प्रकार वरुण देव के जाल (पाश) भी प्राणियों के हित के लिए हैं। चोर के लिए जो दण्ड-विधान हैं उसके दो प्रयोजन हैं मालदारों का माल सुरक्षित रहे और चोर की पाप की प्रवृत्ति कम होकर उसकी धर्म में प्रवृत्ति हो इसलिए वरुण को पाश वाला निष्ठुर कहते हुए भी वरणीय या हितकारी भी कहा है।

मनुष्यों के पाप उत्पत्ति की अपेक्षा से कई प्रकार के होते हैं :—

(१) **बाल-वृत्तिज पाप** ! बच्चे खेल-खेल में चींटियों को मार डालते हैं। मेंढकों पर पत्थर फेंकते हैं बिना कारण या प्रयोजन के दूसरों को कष्ट पहुँचाते हैं। बड़ी आयु वाले भी जिनकी वृत्ति बालकों जैसी होती हैं ऐसे अनेक पाप कर बैठते हैं।

(२) **वीर-वृत्तिज पाप** ! यह पाप अपनी वीरता का प्रदर्शन करने के लिये किये जाते हैं। 'हम किसी की परवाह नहीं करते' ऐसा कहते और केवल बहादुरी दिखाने के लिये अनर्थ करते लोगों को देखा है।

(३) **भीति-वृत्तिज पाप** ! जो भय से किये जाते हैं। बहुत से नर-नारी पाप की प्रवृत्ति न होते हुये भी दूसरों के डर से पाप करने लगते हैं। उनको इतना साहस नहीं होता कि पाप कर्म करने से इनकार कर सकें। इस कोटि के पापी दुनियां में बहुत हैं।

(४) **संस्कारज-पाप** ! जो पुरानी बुरी आदतों के कारण होते हैं जैसे जुआ खेलते देखकर पुराने जुआरी को जुए की हानि जानते

हुये भी जुआ खेलने की प्रवृत्ति जाग उठती है।

(५) **संस्कृतिज पाप** ! कुछ ऐसे पाप भी हैं जिनको देश विशेष या जाति विशेष की संस्कृतियों ने पुण्य मान रक्खा है। जैसे गाय की कुर्बानी। दयालु मुसलमान भी ईद के दिन गाय को कुर्बान करने के लिये प्रेरित हो जाते हैं।

(६) **चतुर्वर्गजपाप**–जो काम क्रोध लोभ मोह से उत्पन्न होते हैं।

यह अधिकतर '**अचित्ती**' अर्थात् अज्ञानवश ही होते हैं। परन्तु 'अज्ञान' से किया हुआ पाप क्षम्य वा अदण्ड्य तो नहीं होता (Ignorance of law is no excuse)। इसलिये वरुण के धर्मों को समझना और उनकी अवहेलना करने से अपने को रोकना यह प्राणीमात्र के लिये आवश्यक है।

ऊपर कहा जा चुका है कि वरुण के पाश हमारी भलाई के लिये हैं। गड़रिया भेड़ों को रात को एक बाड़े में बन्द कर देता है। बाड़ा एक पाश है जो भेड़ों की भलाई के लिये बनाया गया है। इसी प्रकार वरुणदेव के पाशों का प्रयोजन भी जीवों का हित है। यदि यह पाश न होते तो संसार कितना कष्टमय होगा यह बात साधारण मनुष्यों की समझ में नहीं आती। चोर अंधेरी रात को प्यार करता है परन्तु यदि रात अंधेरी ही रहे तो चोर का रहना भी कठिन हो जाय। कठोर से कठोर शासन को लोग दीर्घकाल तक सहते रहते हैं परन्तु एक घण्टे की अराजकता में '**त्राहिमाम्**' '**त्राहिमाम्**' होने लगता है। इसलिये बुद्धिमान लोग वरुण के पाशों का मूल्य समझते हैं और यदि उनसे कोई पाप हो जाता है तो उस के लिये पश्चाताप या प्रायश्चित्त करते हैं और वरुणदेव से प्रार्थना करते हैं कि उन पापों से जो हानि होती है वह न हो। यदि दण्ड भोग कर पाप की प्रवृत्ति नष्ट हो जाय तो यह सब से बड़ा लाभ है। इसलिये कहिये : "**मानस्तम्मादेनसो देव रीरिषः**"।

५३ गृहस्थ धर्म

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्वां भव ।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु ।। (ऋ. १०।८५।४६)
सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु ।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्वा : ।। (अथर्व. १४।१।४४)

वेद स्त्री को कितनी उच्च अवस्था में रखना चाहता है, यह वेद के उक्त मन्त्रों से स्पष्ट होता है—

गृहस्थाश्रम ही सब राष्ट्रीयजीवन का आधार है, ऐसे सर्वश्रेष्ठ गृहस्थाश्रम के विषय में वेदमन्त्रों में क्या कहा है, यह अवश्य देखना चाहिए। उक्त मंत्र का अर्थ देखिये—

'हे स्त्री ! तू श्वसुर, सास, ननद, देवर आदिकों के साथ सुसराल जाकर सम्राज्ञी जैसी रह।' रानी जैसे राजमहल में आनन्द से रहती है, उस तरह तू रानी बनकर अधिकार के साथ वहाँ रह। कोई स्त्री दासी भाव से हीन अवस्था में न रहे, अपितु उत्तम अधिकार से सुसराल में रहे, यह इन मन्त्रों का तात्पर्य है। और देखिए—

अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः ।
वीरसूर्देवृकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ।।
(ऋ. १४।८५।४४)

अघोर चक्षुरपतिघ्नी स्योना शग्मा सुशेवा सुयमा गृहेभ्य : ।
वीरसूर्देवृकामा सं त्वयै धिषीमहि सुमनस्यमाना ।।१७।।
अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः ।
प्रजापती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्नि गार्हपत्यं सपर्य।।१८।।
(अथर्व. १४।२)

'हे स्त्री ! तू (अ—घोर—चक्षुः) अपनी दृष्टि क्रूर न रख, (अ—पतिघ्नी)पति को कष्ट न दे, (पशुभ्यः शिवा) घर के पशुओं का कल्याण करने वाली बन, तथा (सुमनाः सुवर्चाः) उत्तम मन वाली तथा उत्तम

तेजस्विनी होकर रह, (वीर—सूः) वीर पुत्रों को उत्पन्न करने वाली हो, (देवृकामा) घर में पति के भाई हों, ऐसी इच्छा करने वाली हो, (स्योना) सुख देने वाली हो, (नः द्विपदे चतुष्पदे शं भव) हमारे दो पाँव वाले और चार पाँव वालों के लिए आनन्द देने वाली हो। (शग्मा सुशेवा) सुखदायी तथा पति की उत्तम सेवा करने वाली हो, (गृहेभ्यः सुयमा) घर वालों के लिए उत्तम नियमों से चलने वाली बन कर रह, (प्रजावती) प्रजा उत्पन्न करने वाली होकर इस गार्हपत्य अग्नि की उपासना कर।

इस तरह स्त्री को घर की सम्राज्ञीवेद बताता है और देखिए—

इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतां अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि।
एना पत्या तन्वं सं सृजस्वाऽ—धाजिव्री विद्थमा वदाथः॥

(ऋ. १०।८५।२७)

एना पत्या तन्वं सं स्पृशस्वाथ—र्जिर्विविदथमा वदासि।

(अथर्व १४।१।२१)

'अपनी प्रजा से यहाँ तेरा प्यार हो, इस पति के घर में गृहस्थ—धर्म का पालन करने के लिए जागृत रह, इस पति के साथ सुखपूर्वक रह और यज्ञ में अपने पति के साथ भाग ले।' तथा—

मा विदन् परिपन्थिनौ य आसीदन्ति दम्पती।
सुगेभिः दुर्गमतीनां अप द्रान्त्वरातयः॥

(अ. १४।२।११ ऋ. १०।८५।३२)

जो शत्रु इनके पास रहते हों, वे इन पति पत्नी को न जानें, ये दम्पती सुगम मार्ग से कठिन कार्य को करते रहें और शत्रु इनसे दूर भाग जाएँ। तथा—

आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा।
अदुर्मंगलीः पतिलोकमा विश शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥
इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।
दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि॥

(ऋ. १०।८५।४३,४५)

'प्रजा का पालक ईश्वर इस स्त्री में प्रजा उत्पन्न करे। अर्यमा वृद्धावस्था तक इसको ले जाय अर्थात् यह दीर्घायु हो। पति के घर जाकर यह मंगल करने वाली बने। द्विपाद और चतुष्पादों के लिए यह स्त्री कल्याण करने वाली बने। हे इन्द्र ! इस स्त्री के उत्तम पुत्र हों, ऐसा कर। यह स्त्री सौभाग्य से युक्त हो। हे स्त्री ! तेरे दस पुत्र उत्पन्न हों और पश्चात् पति को ग्यारहवाँ मान।

वेद में दस पुत्र या दस सन्तान उत्पन्न करने की मर्यादा कही है। पर ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'अष्टपुत्रा' पद से आठ पुत्र उत्पन्न करने की मर्यादा बताई है। वेद के समय में और ब्राह्मण के समय में इतना परिवर्तन सन्ततिनियमन के विषय में हुआ है। आज तो सरकार सन्ततिनियमन करने वालों की सहायता कर रही है। इतना समय में परिवर्तन हो गया है। वैदिक काल में दस पुत्रों की इच्छा पति और पत्नी करते थे, ब्राह्मण काल में वह इच्छा आठ पुत्रों की रह गई और आज संतति नियमन एक आवश्यक-तत्व बन गया। अस्तु। और देखिए—

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिः मोदामानौ स्वे गृहे॥

(ऋ. १०।८५।४२)

मोदमानौ स्वस्तकौ। (अ. १४।१।२२)

'यहीं रहो, (मा वि यौष्टं) कभी विभक्त न होओ। सम्पूर्ण आयु का भोग करो। अपने घर में आनन्द के साथ पुत्रों और पौत्रों के साथ खेलते हुए आनन्द से रहो।

यहाँ (मा वि यौष्टं) विभक्त न होओ, ऐसा कहा है। विवाह विच्छेद का इस तरह वेद निषेध करता है सो सदा सौ वर्षों तक अपने पुत्र पौत्रों से खेलते और आनन्द करते हुए अपने घर में रहो। कभी विभक्त न होओ।

विवाह का विच्छेद नहीं करना चाहिए। अपने घर में आनन्द से पुत्रों और पौत्रों के साथ रहो। यह वेद की आज्ञा है।

स्त्रियां कैसी हों ?

स्त्रियाँ कैसी हों इस विषय में वेद कहता है कि—

शुद्धाः पूताः योषितो यज्ञिया इमा :
ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि ॥ (अ. ६।१२२।५)

'शुद्ध पवित्र और पूजनीय ऐसी ये स्त्रियाँ हैं। इनको ज्ञानियों के हाथमें पृथक् पृथक् देताहूँ।' जिनको कन्यादान करना हो, वे ज्ञानी हों, अज्ञानी न हों, तथा वे स्त्रियाँ विचार से शुद्ध हों, पवित्र भाषण करने वाली हों, और सदाचारी होने के कारण पूजनीय हों। विचार, उच्चार और आचार में वे निर्दोष हों।

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानां विन्दते पतिम् । (अ. ११।५।१८)

कन्या, कन्या—गुरुकुल में रहकर विदुषी होती थी। इधर लड़का भी गुरुकुल में रहकर विद्वान् होता था। ऐसे दोनों का (युवानं पति विन्दते) तारुण्य में विवाह होता था। स्त्री भी तरुणी होती थी और वर भी युवा होता था। दोनों तरुण और विद्यायुक्त होते थे। इस लिए विवाह के मन्त्र वे ज्ञानपूर्वक समझते थे।

धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष' ये चार पुरुषार्थ हैं। धर्म का आचरण ब्रह्मचर्याश्रम में शुरू होता है। तदनन्तर 'अर्थ' को—धन को प्राप्त करना होता है। धन प्राप्त करके 'काम' अर्थात् विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होना होता है। इसलिए चतुर्विध पुरुषार्थों में 'अर्थ' को पहिले रखा और 'काम' को उसके पश्चात् रखा है। धनहीन से गृहस्थ-धर्म पालन ठीक तरह नहीं हो सकता है, इसलिए कहा है कि—

भगेन सह कुमारीं आगमेत् । (अ. २।३६।१)

'धन के साथ कुमारी के पास जावें और उसको पत्नी के रूप में प्राप्त करें।' स्त्री का और बालबच्चों के पोषण करने का भार पुरुष पर आता है। इसलिए विद्या प्राप्त करने के पश्चात् पुरुष धन प्राप्त करे और पश्चात् विवाह का विचार करे। विवाह के पश्चात्—

भगस्य जुष्टा इयं नारी
पत्या अविराधयन्ती सं प्रिया अस्तु ॥ (अ. २।३६।४

'ऐश्वर्य को प्राप्त हुई यह स्त्री, पति से विरोध न करती हुई पति को प्रिय हो।' विवाह के पूर्व यह स्त्री को शिक्षा मिलनी चाहिए, कि वह पति के घर किस तरह रहे। आजकल स्वतन्त्र विचार बढ़ाए जाते हैं। स्वतन्त्र विचार अवश्य चाहिएँ, विचारों की गुलामी नहीं चाहिए, परन्तु वह स्वतन्त्रता ऐसी नहीं चाहिए, कि जो पति पत्नी में विरोध पैदा करे। इसलिए कहा है कि—

पतिं गत्वा सुभगा वि राजतु
पुत्रान् सुवाना महिषी भवाति। (अथर्व. २।३६।३)

'यह स्त्री पति के घर जाकर उत्तम ऐश्वर्य युक्त बने, पुत्रों को उत्पन्न करके रानी जैसी विराजती रहे।' यहाँ '(महिषी भवाति)' यह पद मुख्य है। सम्राज्ञी या रानी जैसी यह स्त्री पति के घर विराजती रहे। स्त्री की यह योग्यता है। राष्ट्र का संवर्धन करने का कार्य स्त्रियों का है। स्त्री सन्तान उत्पन्न करती हैं, जिससे राष्ट्र बढ़ता रहता है। जिस राष्ट्र में केवल पुरुष ही पुरुष हों, वह राष्ट्र जीवित नहीं रह सकता। प्रजा की वृद्धि करना स्त्रियों का ही कार्य है। इस लिए स्त्रियों को रानी के समान घर में रखना चाहिए, ऐसा वेद कहता है। पति के घर आई हुई स्त्री क्या-क्या इच्छा करे, इस विषय में कहा है—

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम्। (अथर्व १४।१।४२)

स्त्री पति के घर (सौ-मनसं) उत्तम मन और उत्तम विचारों के साथ रहे, (प्रजां) उत्तम सन्तान होने की इच्छा करे, घर के व्यवहार ऐसे करे कि जिससे वह घर की रानी है ऐसा देखने वालों को पता लगे।

पत्युः अनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्व अमृताय कम्। (अ. १४।१।४२)

घर में स्त्री पति के अनुकूल बर्ताव करती रहे और अमरत्व और आनन्द प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करे।' अमृत और आनन्द प्राप्त करना चाहिए। अमृतत्व का अर्थ दीर्घ-जीवन और आनन्द का अर्थ

मन का शान्तिपूर्ण सुख है, यह तो उस समय प्राप्त हो सकता है कि जिस समय घर में पति के अनुकूल आचरण करने वाली पत्नी हो और पति के अनुकूल बर्ताव हो, तो आनन्द और शान्ति स्थापित हो सकती है। मानवों में मतभेद तो होते ही रहेंगे, पर उनको बढ़ाना नहीं चाहिए, मर्यादा में रखना चाहिए, उससे घर में शान्ति सुख बढ़ सकता है।

स्त्रियाँ सूत कातें

घर में फुरसत के समय स्त्रियाँ सूत कातें और कपड़ा बनावें।

देवी: अकृन्तन् तत्निरे अभित:
अन्तान् अददन्त अवयन्।
स व्ययन्तु आयुष्मती
इदं वास: परि धत्स्व ॥ (अ. १४।१।४५)

'देवियां घर में फुरसत के समय सूत कातें। ताना बाना बुनें, कपड़े के अन्तों को ठीक करें। बुनें, मिलकर बुनने का कार्य उत्तम रीति से करें। दीर्घ आयु प्राप्त करती हुई स्त्री इस कपड़े को पहने।'

पत्नी का बना हुआ कपड़ा पुरुष पहनें। इस तरह के कपड़े पहनने से बुनने वाली पत्नी का स्मरण हर समय होगा और इस कारण उस पति के मन में अपनी पत्नी के सम्बन्ध में कितना प्रेम रहेगा, इसका विचार पाठक कर सकते हैं। "अपनी पत्नी का बनाया हुआ कपड़ा मैं पहन रहा हूं," यह कल्पना ही कितना आनन्द देने वाली है, इसका विचार करने से पता लग सकता है कि, यही तो गृहस्थाश्रम में प्राप्त होने वाला आनन्द है। हरएक गृहस्थी को यह आनन्द प्राप्त हो और इससे गृहस्थी लोग सुख प्राप्त करें, यही वेद का आदेश है।

निष्कपट व्यवहार

स्त्री पुरुष का परस्पर व्यवहार निष्कपट होना चाहिए। इस विषय में वेद का कहना है—

यत् अन्तरं तत् बाह्यम् । यत् बाह्यम् तत् अन्तरम् ।

(अ० २।३०।४)

'जैसा मन में हो वैसा ही बाहर का व्यवहार हो और जैसा बाहर का व्यवहार हो वैसा ही मन में हो।' किसी तरह का छल या कपट उन दोनों के व्यवहार में न हो। कितना बड़ा आदर्श वेद ने गृहस्थियों के सामने रखा है। इससे ही जीवन अमृत-रूप और आनन्दमय हो सकता है।

परस्पर प्रेम

दम्पति का—पति—पत्नीका—परस्पर प्रेम हो। वे एक-दूसरे को चाहें, कभी उनमें परस्पर विरोध न हो, इस विषय में कहा है—

यथा वृक्षं लिबुजा समन्तम् परिषस्वजे ।
एवा परिष्वजस्व मां यथा मां
कामिनी असः यथा मन्नापगा असः ॥ (अ. ६।८।१)

'जिस तरह वृक्ष से बेल चारों तरफ लिपट जाती है, उसी तरह हे स्त्री ! तू मुझसे लिपट जा, मेरी इच्छा करने वाली हो और मुझसे दूर जाने वाली न बन।

यह दोनोंका आन्तरिक प्रेम है। इसी प्रेम के कारण यह गृहस्था-श्रम ही पृथ्वी का स्वर्गधाम बन जाता है; इस प्रेम-सुख के प्राप्त होने पर दोनों की आयु भी बढ़ती है। रोग भी मन के सामर्थ्य बढ़ जाने से दूर होते हैं, जीवन में रस आता है और सब प्रकार से आनन्द अनुभव में आता है। तथा और देखिए—

अन्तः कृणुष्व मां हृदि मन इन्नौ सहासति । (अ. ७।३६।१)

'हे स्त्री ! अपने हृदयमें मुझे रख, हम दोनों के मन सदा ही परस्पर मिले रहें।' दोनों के मनों में परस्पर प्रेमभाव रहे। कभी भी विरोध उत्पन्न न हो। पत्नी के हृदय में पति वास्तव्य करे और पति के हृदय में पत्नी रहे। इस तरह दोनों अन्तःकरण से एक जैसे होकर रहें।

केश स्त्रियों सौन्दर्य है

स्त्रियों का सौंदर्य केशों से बढ़ता है। इसलिए स्त्रियों को उचित है कि वे अपने केशों का संरक्षण करें—

केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णः ते असिताः परिः। (अ. ६।१३७।२)

'तेरे सिर पर केश वैसे बढ़ें जैसे घास बढ़ती है और ये बाल श्वेत न हों, काले ही रहें।' स्त्री को अपने बालों का संरक्षण करना चाहिए। इस कार्य के लिए वनस्पतियाँ भी हैं। केशवर्धक-औषधिका वर्णन इस प्रकार है—

देवी देव्यामधि जाता पृथिव्यामस्योषधे।
तां त्वा नितत्नि केशेभ्यो दृंहणाय खनामसि॥ (अ. ६।१३६।१)

'हे औषधि! तू दिव्य गुणों से युक्त पृथिवी पर उगती है, हे नीचे फैलनेवाली औषधि! केशों को बलवान और सुदृढ़ बनाने के लिए हम तुझे खोदते हैं।

इस औषधि के रससे बाल बढ़ते हैं, टूटते नहीं, अच्छे और काले रहते हैं और सुन्दर दीखते हैं।'

इस औषधि का नाम यहाँ 'नितत्नि, दिया है। यह कौन सी वनस्पति है, इसकी खोज करनी चाहिए। इससे जो लाभ होते हैं, वे इस सूक्त में स्पष्ट रीति से लिखे हैं। यदि इस वनस्पति की खोज की जाए, तो बहुत लोगों का लाभ हो सकता है।

रश्मिस्नान

स्त्री को रश्मिस्नान करने की भी सलाह वेद देता है। रश्मिस्नान का अर्थ सूर्य-किरणों का स्नान हैं। सूर्य की किरणों के स्नान से अपूर्व आरोग्य प्राप्त होता है, देखिए—

सूर्यस्य रश्मीन् अनु याः सञ्चरन्ति
मरीचीर्वा या अनुसञ्चरन्ति॥ (अ. ४।३८।५)

'सूर्य की किरणों में अनुकूलता से संचार करनेवाली अथवा सूर्य-

प्रकाश में अनुकूलता से घूमनेवाली स्त्रियाँ हों।'

'सूर्य आत्मा जगत: तस्थुष: च' (ऋ. १।२२५।४; वा. य. ७।४२)

सूर्य स्थावर जंगम की आत्मा है।' इतना सामर्थ्य सूर्य में है, सूर्य-प्रकाश से वह सामर्थ्य मनुष्यों को प्राप्त होता है। जो स्त्री या पुरुष सूर्य-प्रकाश में भ्रमण करते हैं, वे इस सामर्थ्य को प्राप्त करते हैं। दीर्घायु प्राप्ति में यह रश्मिस्नान उपयोगी होता है। इसलिये स्त्रियाँ अवश्य रश्मिस्नान करें, स्त्रियों का कार्य संतान उत्पन्न करना है, यह राष्ट्ररक्षा के लिए अत्यंत महत्व का कार्य है, इसलिए स्त्रियों की सुरक्षा अवश्य करनी चाहिए। इस विषय में वेद का यह आदेश है—

कर्कीं वत्साँ इह रक्ष वाजिन्। (अ. ४।३८।६)

'कर्तृत्व—शक्ति से युक्त पुत्री की यहाँ इस जगत् में सुरक्षा कर।' पुत्री में कर्तृत्व-शक्ति बढ़े, ऐसी उसको सुशिक्षा देनी चाहिए और उसकी सुरक्षा भी होनी चाहिए।

स्त्री के पातिव्रत्य की सुरक्षा

स्त्री के पातिव्रत्य की हर तरह से सुरक्षा होनी चाहिए। राष्ट्रीय कार्यों में यह कर्त्तव्य मुख्यतया उल्लेखनीय है। इस सम्बन्ध में वेद का कहना ऐसा है—

देवा वा एतस्यां अवदन्त पूर्वे
सप्त ऋषयस्तपसा ये निषेदुः।
भीमा जाया ब्राह्मणस्यापनीता
दुर्धां दधाति परमे व्योमन्॥६॥
ये गर्भा अवपद्यन्ते जगद् यच्चावलुप्यते।
वीरा ये तृह्यन्ते मिथो ब्रह्मजाया हिनस्ति तान्॥७॥

(अ. ५।१७)

'इस सम्बन्ध में देवों ने पहिले घोषणा करके कहा है, जो सप्त ऋषि तप करने के लिए बैठते हैं, वे भी वैसा ही कहते हैं कि, ज्ञानी

की भगाई गयी स्त्री भयानक होती है, उसे परम श्रेष्ठस्थान में भी रखना कठिन है। जो गर्भ गिराए जाते हैं, जहाँ चलनेवाले प्राणी नाश को प्राप्त होते हैं, जहाँ वीर आपस में ही लड़ते भिड़ते हैं, भगाई गई ब्राह्मण की स्त्री उन सबका नाश करती है।'

किसी की स्त्री भगाई जाय अर्थात् उस स्त्री के पातिव्रत्य का नाश किया जाय, तो वह पातिव्रत्यका नाश सब राष्ट्रका घात करता है, ऐसा देवोंने तथा ऋषियोंने कहा है। जिस राष्ट्र में ऐसी स्त्रियोंकी दशा होती है, वहां गर्भपात होते हैं, प्राणियोंकी हत्या होती है, आपस में वीर लड़ते और अपना नाश करते हैं, इसलिये स्त्रीके कष्ट उन सबका नाश करते हैं। इसलिये स्त्री के पतिव्रत्यकी सुरक्षा की जानी चाहिये।

राष्ट्रके अन्दर जो प्रजाजन रहते हैं वे राष्ट्रमें सुरक्षित रहें, उनका नाश न हो, ऐसी यदि इच्छा हो, तो राष्ट्रमें स्त्रियोंके चारित्र्यका रक्षण अवश्य होना चाहिये। क्योंकि स्त्रियोंका चारित्र्य जहां सुरक्षित नहीं रहता, वहां अन्य बाते सुरक्षित रहेगी ऐसा समझना भूल है।

कामविकारसे अपना बचाव

इस जगत्में 'काम' ऐसा है कि जो अनेक पाप कराता है। इस विकारसे ही जगत्में स्त्रियोंका अपहरण होता रहा है। कामके विषय में कहा है—

सपत्नहनं ऋषभं कामं हविषा शिक्षामि।

(अथर्व. ६।२।१)

'सपनोंका नाश करने वाले बलवान् कामको मैं यज्ञसे शिक्षित करता हूँ।' अर्थात् यज्ञ के त्यागभावसे ही कामको संयममें रखा जा सकता है। यह काम बड़ा मारक है। इससे बचानेवाला कवच ज्ञान है, इस विषयमें कहा है—

यत् ते काम शर्म त्रिवरूथं
उद्भु ब्रह्म वर्म विततं
अनतिव्याध्यं कृतम् । (अथर्व ९।२।१६)

'कामका एक उत्तम कवच है, जो तीनों केन्द्रोंमें उत्तम रक्षा करता है। यह कवच पहनकर मनुष्य (अनअति–व्याध्यं) शत्रु के प्रहार से बचा रहता है। यह कवच (ब्रह्म वर्म)ज्ञानरूपी कवच है।' इस कवच को पाकर ज्ञानी अपने ज्ञानसे अपनी सुरक्षा करता हुआ कामके हमलों से अपना बचाव करता है और सुरक्षित रहता है।

अर्थात् ज्ञानसे सुरक्षित हुआ मनुष्य कामको अपने वशमें रखता है, जिससे उसका बचाव होता है । इस कारण स्त्री–पुरुषोंको प्रथम आयुमें उत्तम ज्ञान देना चाहिये, ताकि ज्ञानके कवचसे उनका काम आदि शत्रुओंसे उत्तम बचाव हो सके। ऐसे ज्ञान कवचको पहननेवाले पुरुष यदि राष्ट्रमें हों, तो स्त्रियोंके चारित्र्यका बचाव उत्तम रीतिसे हो सकता है और जहां स्त्रियों के चारित्र्यका बचाव होता है, वह राष्ट्र एक उत्तम व श्रेष्ठ राष्ट्र बन सकता है :

पत्नीके गुण

जिन शुभगुणोंके कारण पत्नी श्रेष्ठ समझी जाती है, वे शुभ गुण ये हैं—

मृदुः निमन्युः केवली प्रियवादिनी अनुव्रता। (अथर्व. ३।२५।४)

१.मृदुः—स्त्री शान्त स्वभाववाली हो -
२. निमन्युः—स्त्री क्रोध करने वाली न हो ।
३. प्रियवादिनी —स्त्री प्रिय बोलनेवाली हो।
४. अनुव्रता— स्त्री पतिके अनुकूल कार्य करने वाली हो।
५. केवली—स्त्री केवल अपने पतिकी ही बनकर रहने वाली हो।
६. वशा—पति के वशमें रहनेवाली स्त्री हो।
(अथर्व. ३।२५।६)
७. चित्तं उपायसि—पतिके चित्तके साथ अपना चित्त लगानेवाली स्त्री हो। (अथर्व. ३।२५।५)

८. क्रतो भसः—पति जो कर्म करे, उसमें सहायता देनेवाली स्त्री हो। (अथर्व. ३।२५।२६)

९. अक्रतुः—पतिके विरुद्ध कोई कर्म करनेवाली स्त्री न हो। (अथर्व. ३।२५।६)

इन शुभगुणोंसे युक्त धर्मपत्नी हो। गृहस्थाश्रमको उत्तम रीतिसे यशस्वी बनानेके लिये स्त्रीके अन्दर ऐसे शुभ गुण होने चाहियें। स्त्री और पुरुष एक विचारवाले हों तभी यह गृहस्थाश्रम सुखदायक हो सकता है। वेदने इस गृहस्थाश्रमको सुखपूर्ण करने लिये कितना उत्तम उपदेश दिया है।

वीर पुत्रकी उत्पत्ति

पुत्रका नाम वेदमें 'वीर' तथा कन्याका नाम 'वीरा' अथवा 'सुवीरा' है। पुत्र कैसा हो, इस विषयमें यजुर्वेद का यह वचन ध्यानमें धरने योग्य है।

जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरो जायताम्

(वा. जु. २२।२२)

'विजयशील, रथमें बैठनेवाला, सभामें सन्मान पाने योग्य, तरुण जैसा कार्यकर्ता पुत्र इस यजमानके हो। इस मंत्रमें वीरपुत्र चाहिये, यह आकांशा स्पष्ट है। इसी इच्छा को इस मंत्रने और स्पष्ट रीतिसे प्रकट किया है—

आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान् वाण इवेषुधिम्।
आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः ॥२॥

पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम्।
भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयाश्च यान् ॥३॥
विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि यः तुभ्यं शं असत्।
शं उ तस्मै त्वं भव ॥५॥ (अ. ३।२३)

'हे स्त्री! जैसे तरकश में वाण रहता है, वैसे ही पुत्र तेरे गर्भ में

रहे। तेरा पुत्र वीर बने और वह दशवें मास में उत्पन्न हो, अर्थात् उसकी बाढ़ उत्तम रीति से हो और पश्चात् उसका जन्म हो। हे स्त्री पुत्र को उत्पन्न कर और उस के पश्चात् भी तुझे पुत्र ही हो। इस तरह तू अनेक पुत्रों की माता बन। तुझ से जन्मे हुए पुत्र हों और भविष्य में होने वाले भी पुत्र ही हों। हे स्त्री! इस तरह तू पुत्रको प्राप्त हो, वह पुत्र तुझे सुख देवे और तू उस पुत्र को सुख देने वाली बन।'

इस तरह पुत्र होने की इच्छा वेद में बताई है। घर में पुत्र होना चाहिए, जिससे कुल चलता रहे और कुल की वृद्धि होती रहे।

यहाँ 'बाण इव इषुधि' ये पद मननीय हैं। तरकश में बाण रहता है, वह बाण शत्रु को मारने के लिए ही होता है। उसी प्रकार यह पुत्र दुष्टों को बींधने वाला बने, शूरवीर बने यह इसका तात्पर्य है। 'वीर' का अर्थ भी ऐसा ही शूरतादर्शक है। 'वीरगति अमित्रान्' दुष्टों को जो दूर करता है उसको वीर कहते हैं। पुत्र ऐसा वीर शूर प्रभावी बली हो, यह वेद का कहना है।

गर्भ दोष का निवारण

स्त्री में गर्भ रहता है, तब नानाप्रकार के दोष उस गर्भाशय में होते हैं, उन सब दोषों को दूर करना चाहिए और निर्दोष अपु उत्पन्न करना चाहिए, इस विषय में कहा है—

यः स्त्रियं मृतवत्सां
अवतोकां कृणोति अस्याः तं नाशय ॥१६॥
ये अम्नः जातान् मारयन्ति सूतिका अनुशेरते ॥१६॥
अप्रजास्त्वं मार्तवत्सं रोदं अघं आवयं प्रतिमुञ्च ॥२६॥

(अथर्व. ८।६)

'जो स्त्री को मरने वाले बालकों की माता बनाता है, अर्थात् जिस कृमि के कारण स्त्री के पुत्र जन्मते ही मर जाते हैं, उन रोग कृमियों को दूर करो। संतान न होना, गर्भ में ही सन्तान का मर जाना अथवा उत्पन्न होते ही मर जाना आदि दोष जिनसे होते

हैं, वे रोग या वे रोग के कृमि स्त्री के प्रसूति-गृह से दूर हो जाय अर्थात् ये रोग कृमि स्त्री के गर्भाशय में न जायें तथा प्रसूतिगृह में भी न रहें।'

अर्थात् स्त्री को इन रोगकृमियों से कोई हानि न पहुँचे और स्त्री सुसन्तानवाली हो और वह सन्तान भी उत्तम बलशाली धीर वीर और शूर बने। इस विषय में और भी अधिक विचार वेद ने कहा है—

शमीं अश्वत्थं आरूढः तत्र पुंसवनं कृतम्।
तद् वै पुत्रस्य वेद तन्नं स्त्रीषु आभरामसि ॥१॥
पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियां अनु षिच्यते।
तद् वै पुत्रस्य वेदन तत् प्रजापतिः अब्रवीत् ॥२॥
स्त्रैषूयमन्यत्र दधत् पुमांसं उ दधत् इह ॥३॥ अ. ६।११

'शमी (सेंवर) के वृक्ष पर उगे हुए अश्वत्थ (पीपल) को औषधि-रूप में सेवन करने से पुत्र उत्पन्न होता है, पुत्र प्राप्ति का यह उत्तम साधन है, वह औषधि स्त्री को देनी चाहिए। पुरुष का वीर्य स्त्री में सींचा जाता है, उससे पुत्र की प्राप्ति होती है, ऐसा प्रजापति ने कहा है। यहाँ हमारे घर में पुत्र ही उत्पन्न हों, लड़की के उत्पन्न होने का कार्य दूसरे के घर में हो।'

शमी वृक्ष पर उगे हुए अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष का पंच अंग अर्थात् जड़, छिलका, पत्ते, फल, फूल आदि का चूर्ण स्त्री को दिया जाय, तो पुत्र न होने वाली स्त्री को भी पुत्र उत्पन्न होते हैं। यह पुत्र उत्पन्न करने वाली औषध यहां कही है। वंध्या स्त्री पर इस औषध का प्रयोग करके देखना योग्य है।

इस मन्त्र का दूसरा भी एक अर्थ है। (शमी) शान्त और संयमशील स्त्री का सम्बन्ध (अश्व-त्थ) घोड़े जैसे वीर्यवान् पुरुष के साथ हो तो उस स्त्री के पुरुष संतान होती है। यहाँ स्त्री (शमी) अर्थात् संयम-शील हो और पुरुष (अश्व-त्थ) घोड़े के समान वीर्यवान् हो ऐसा कहा है। स्त्री-पुरुषों को यह बात ध्यान में रखने योग्य है। व्यायामादि करके पुरुष घोड़े के समान वीर्यवान् बने, तथा स्त्री संयमशील बने। ...र पुत्र ही उन दोनों के सम्बन्ध से होते हैं।

सूर्य-चन्द्र जैसे बालक

घर में बालक सूर्य अथवा चन्द्र जैसे हों। अदिति माता का यह विश्वरूपी घर है। इसमें सूर्य और चन्द्र जैसे पुत्र हों और वे घर में खेलते रहें, ऐसी इच्छा वेद ने प्रकट की है, देखिये—

पूर्वापरं चरतो माययैतौ
शिशू क्रीडन्तो परि यातोऽर्णवम्।
विश्वान्यो भुवना विचष्टे
ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नमः ॥अ० (७।८१-१)

'ये दो बालक सूर्य और चन्द्र खेलते हैं और शक्ति से आगे पीछे चलते रहते हैं और वे भ्रमण करते हुए समुद्र तक पहुँचते हैं। इनमें से एक सब भुवनों को प्रकाशित करता है और दूसरा ऋतुओं को बनाता हुआ स्वयं भी नया नया बनता जाता है।

अर्थात् इन दो बालकों में एक संपूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है और दूसरा ऋतुओं का निर्माण करता है। ऐसे सूर्य चन्द्र जैसे पुत्र घर-घर में उत्पन्न होने चाहिएं। ऐसी इच्छा पति और पत्नी अपने मन में धारण करें, यह बोध यहाँ मिलता है।

मेखला-बधन

कमर को कसने के लिए कमर बंध बांधा जाता है। कमर को कसने से शक्ति बढ़ती है और ढीली कमर रखने से ढीलापन उत्पन्न होता है। इसलिए वैदिक-संस्कारों में 'मेखला-बंधन' का विधान है। कोई पुत्र ढीली कमर वाला न हो, सब कटिबद्ध होकर तैयार हों और वीरता दिखाने के लिए तैयार रहें, इसलिए कहा है—

वीरघ्नी भव मेखले। (अ. ६।१३३।२)

'मेखला कमर पर बाँधने से शत्रु के वीरों को मारने की शक्ति शरीर में आ जाती है। तथा और देखिये—

यां त्वा पूर्वे भूतकृत: ऋषयः परिबेधिरे।
सा त्वं परि ष्वजस्व मां दीर्घायुत्वाय मेखले ॥अथर्व०(६।१३३।५)

'हे मेखले ! जिस तुझको भूतकाल के पराक्रम करने वाले ऋषियों न बाँधा था, वह तू भी मेरी दीर्घायु के लिए मेरे शरीर पर लिपटी रह।'

मनुष्य मेखला बंधन से दीर्घायु प्राप्त करके प्राचीन विद्वान् ऋषियों की तरह उत्तम प्रभावी आचरण को अपना सकता है।

मेखला बन्धन कटिबद्धता बताता है। हरएक कार्य करने के लिए कटिबद्धता रहनी चाहिए, जिससे उत्साहपूर्वक कार्य हो सके। वीरता बढ़ाने के लिए मेखलाबंधन अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए कहा है—

ब्रह्मणा तपसा श्रमेण मेखलया सिनामि। (अ. ६ । १३३ । ३)

'ज्ञानशीत-उष्ण सहन करने की शक्ति, परिश्रम करने का सामर्थ्य और कटिबद्धता इन सबसे मैं युक्त हूँ।' इतने गुण तरुणों में होने चाहिएं। ज्ञान और विज्ञान मनुष्य के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं, ज्ञान मनःशान्ति के लिए और विज्ञान ऐहिक सुखोपभोगों के लिए। शीत-उष्ण, हानि लाभ-लाभ, जय-पराजय इन द्वंद्वों का सहन करके भी अपना कर्त्तव्य करना चाहिए, श्रम करने की शक्ति प्राप्त करनी चाहिए, और कमर कसनी चाहिए। यह सब तरुणों को तैयार रहने की सूचना है। कुछ भी हो सदा कर्त्तव्य करने के लिए सिद्ध रहना चाहिए। यह इसका तात्पर्य है।

गृहस्थी को अपना—अपना घर बना कर उसमें रहना चाहिए। घर कैसा हो इस विषय का विचार अथर्ववेद काण्ड ३ सूक्त १२ में किया है। इन सूक्त में घर का वर्णन करने वाले ये पद हैं, जो घरका यथायोग्य वर्णन कर रहे हैं, इसलिए इन पदों का ही यहाँ विचार करते हैं—

१ **अश्वावती—(शाला)**—अपने घर में घोड़े हों। बाहर जाने आने के लिए घोड़े ही उपयोगी हैं। (मन्त्र २)

२ **गोमती**—घर में गायें हों। गौ का दूध पुष्टिका उत्तम साधन है। गौ और बैल ये दोनों उपयोगी पशु हैं। गाय दूध देती हैं : बैल खेती करके धान्य देता है। (मं. २)।।

३ पयस्वती— घर में भरपूर दूध हो।
४ घृतवती—घर में भरपूर घी हो।
५ घृत उक्षमाणा—घर घी देने वाला हो। (मं. १)
६ ऊर्जस्वती—घर में विपुल अन्न हो। (मं. २)
७ धरुणी, ८ पूतिधान्या—घर में पर्याप्त धान्य हो।
९ परिस्रुतः कुम्भः—घर में मीठे शहद से भरा घड़ा हो। (मं. ७)
१० दध्नः कलशैः—दही से भरे कलश घर में हों। (मं. मं. ७)
११ घृतस्यः कुम्भं—घी से भरा घड़ा घर में हो। (मं. ८)
१२ अयक्ष्मा यक्ष्मनाशिनीः आपः—निरोग और रोगों को दूर करने वाला जल घर में हो। (मं. ९)

घर में ये पदार्थ रहने चाहिएँ। जिससे घरके लोग हृष्ट-पुष्ट तथा नीरोग रह सकें। आजकल गायका घी और दूध मिलना मुश्किल हो गया है। इससे पोषक खाद्य वस्तु नहीं मिल पा रही। गायका दूध, दही, छाछ, मक्खन तथा घीसे घरमें जहाँ घड़े भरे होते थे, वहाँ आज पाव भर भी नहीं मिल पा रहा है। इस समस्या का केवल एक ही हल है कि लोग अपना ध्यान गोरक्षा करने के कार्य में लगावें।

अतिथि-सत्कार

वेदों में विधान है कि अतिथि सत्कार घी की धारा से करना चाहिए—

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भं एतं
घृतस्य धारां अमृतेन संभृताम्।
इमां पातॄन् अमृतेना समङ्‌धि
इष्टापूर्तं अभि रक्षत्येनाम्॥ (अ ३।१२।८)

'हे गृह पत्नि ! अतिथियों को परोसने के लिए घी का घड़ा ले आओ, और अतिथियों को जितना चाहिए उतना दो, कंजूसी न

करो।' इस प्रकार का दान घर की शोभा बढ़ाता है। घर का महत्त्व सुरक्षित रखता है।

घर में अतिथि आये तो उस विद्वान अतिथि का सत्कार करना चाहिए। गृहस्थी का यह कर्तव्य ही है, विद्वान् पुरुष सत्कार करने के लिए, सदुपदेश करने के लिए, देशोद्धार करने के लिए भ्रमण करते हैं। उनका आदर सत्कार, खान-पान आदि का प्रबन्ध गृहस्थी पुरुषों को ही करना चाहिए।

गृहस्थियों के आश्रय से ही उपदेशक जीवित रह सकते हैं और राष्ट्र के उद्धार का कार्य कर सकते हैं। यदि गृहस्थी लोगों ने उनको खान पान तथा अन्य प्रकार की सहायता न दी, तो उनका गुजारा किस तरह हो सकता है, और यदि उनका गुजारा ठीक तरह नहीं हुआ, तो वे अपना कार्य भी किस तरह कर सकते हैं ? अतः इसका भार गृहस्थियों को ही सहन करना चाहिए।

गृहस्थी को ही इन राष्ट्र सेवकों का पालन करना चाहिए। नहीं तो वे उपदेशक कहाँ जाएँ ? इस कारण गृहस्थ पर यह भार है।

(गावः) सूयवसे रुशन्तीः।

सुप्रपाणे शुद्धा अपः पिबन्त ॥ अ. ४।२१।७)

गौवें उत्तम घास खावें और उत्तम जल स्थान में शुद्ध जल पीयें। इस प्रकार गौवों का पालन घर-घर में होना चाहिए। आज गौवें मारी जाती हैं। वेद में गौ, बैल और पर्वत को 'अघ्न्य' अर्थात् अवध्य कहा है। जिसका वध नहीं होना चाहिए उसका ही वध हो रहा है, इससे हमारे आरोग्य की हानि इतनी हो रही है कि जो किसी प्रकार भी दूर नहीं हो सकती।

अब बात आती है ऋण-रहित होने की, वह अब देखिये—

ऋणरहित होना

ऋणरहित होने के विषय में वेद में बड़ा उत्तम उपदेश है।

वह देखिये—

अनृणा अस्मिन् अनृणाः परस्मिन्
तृतीये लोके अनृणाः स्याम ।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः
सर्वान् पथो अनृणाः आ क्षियेम ॥

(अ. ६।११७।३)

'इस लोक में हम ऋणरहित हों, परलोक में ऋणरहिम होकर रहें, तृतीय लोक में भी हम ऋणरहित होकर रहें, जो देवयान और पितृयान मार्ग हैं उनसे हम ऋणरहित होकर जाएँ ।'

इस तरह उऋण होने के सम्बन्ध में कहा है। यह विषय प्रत्येक गृहस्थी को ध्यान में धारण करने योग्य है । ऋणरहित होना यह प्रत्येक गृहस्थी के लिए आवश्यक है । क्योंकि ऋण में रहने से अनेक आपत्तियों का सामना करना पड़ता है ।

'दुष्ट स्वप्न, दुःखमय जीवन, हिंसकों का उपद्रव, विकास में होने वाली बाधायें, निर्धनता, बुरे शब्द बोलने का स्वभाव, सब प्रकार के दुष्ट भाषण करने का अभ्यास ये सब विपत्तियाँ हमसे दूर हों ।'

ये सब विपत्तियाँ हैं। इनसे कष्ट होते हैं, इसलिए इन विपत्तियों को दूर करना चाहिए और भाग्य प्राप्त करना चाहिए ।

तेन मा भगिनं कृणु
अप द्रान्त्वरातयः । (अ. ३।१२९।३)

'मुझे भाग्यवान् कर, सब आपत्तियाँ मुझसे दूर हों ।' यह इच्छा हर एक गृहस्थी में रहनी चाहिए। और इसके लिए उसके प्रयत्न होने चाहिएँ । अपनी सुरक्षा करनी चाहिए। गृहस्थी के विचार हों, कि—

यो नो द्वेष्टि अधरः सस्पदीष्ट
यं उ द्विष्मः तं उ प्राणो जहातु ॥ (अ. ७।३२।१)

'जो अकेला हम सबसे द्वेष करता है वह नीचे गिर जाय, तथा जिस अकेले से हम सब द्वेष करते हैं उसके प्राण उसको छोड़ कर चले जायें।' अर्थात् वह मर जाय।

अपनी सुरक्षा करने के लिए जो यत्न होना चाहिए उसमें बहु मतवालों की सुरक्षा हो और दुष्टों की अल्पमति रहे, ऐसा यत्न करना चाहिए।

इस प्रकार वेद में गृहस्थ को सुखी बनाने के निर्देश स्पष्ट हैं। सभी को इन पर आचरण कर लोक और परलोक दोनों को आनन्दमय बनाने का मार्ग प्रशस्त करना चाहिए।

मेरी इच्छा

मयि वर्चो अथो यशोऽथो यज्ञस्य यत् पयः।
तन्मयि प्रजा पतिर्दिवि द्यामिव दृहंतु॥ अथ ३।२६।३

शब्दार्थ—(मयि) मुझमें (वर्चः) प्रताप (अथो) और) (यश) कीर्ति (अथो) और (यज्ञस्य) यज्ञ का (यत्) जो (पथ) सार पदार्थ (तत्) वह (मयि) मुझसे (प्रजापति) प्रजाओं के स्वामी परमात्मा (दिवि) द्यौलोक में (द्याम) सूर्य को (इव) जैसे (दृहंतु) दृढ़ करे।

भाषानुवाद—मुझमें प्रताप (विद्यमान रहे) और मुझमें कीर्ति (वर्त्तमान रहे) और जो यज्ञ का सार पदार्थ है वह भी मुझे (प्राप्त रहे)। प्रजाओं का पालन करने वाला परमात्मा मुझमें इसे ऐसा दृढ़ करे जैसा सूर्य द्यौलोक में स्थापित है।

ENGLISH TRANSLATION

May power of exertion exist in me, and may glory abide in me and may the essence of self-sacrificing act ever associate with me, may Prajapati— Lord of all creatures establish this in me just as the sun is firmly fixed sn the heavenly region.

Ath. VI. 69. 3

Vedic Sandhya

This book treats of the compulsory daily devotional exercises of the Aryas It describes Vedic sacrifice. The texts of the Vedas used in such a sacrifice are given in this treatise with their full explanations which should be carefully studied and all actions enjoined in the performance of the sacrifice should be faithfully executed. The exercitant, should adopt measures for the purification of his or her soul and mind and to cleanse the body, then betake to some quiet, secluded place, compose his or her whole self and then faithfully go through each step laid down in the procedure. The immediate fruit of the regular performance of these duties is the advancement of the soul through the attainment of useful and true knowledge, and success in one's mundane as well as supramundane affairs through the acquisition of bodily health. Ultimately the exercitant is led on to the attainment of the ability and inclination to follow the law of righteousness in his or her daily life, the acquisition of the wherewithal of life by all just means the fulfilment of his or her noble aspirations and achievement of final emancipation in 'this' very life. Every man and woman should enjoy true bliss by attaining these objects.

Authorities enjoining the performance of the twilight meditation and the sacrifice of burnt offerings:

सायं सायं गृहपतिर्नोऽअग्निः प्रातः प्रातः सौमनसस्य दाता ।
वसोर्वसोर्वसुदानऽ एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ॥ A V. 19:5,3 ॥

This Master of our houses, that is, the Protector of our households and our souls, namely the physical fire and God Almighty. both become the subjects of our well-performed daily Vedic sacrifice and the Bestowers upon us of bodily health and happiness and of the greatest and best gifts of life. Hence God is well known to be the Granter of wealth. Therefore, the exercitant, who ever he or she may be whether the ruler of a kingdom or a poor householder, should daily pray to God to

reveal Himself in his or her heart and grant him or her the ability properly to discharge his or her duties in life. In this, both the physical fire and God Almighty are referred to. Thus revealing the Being, Attributes and Nature of God to others by these means, namely these devotional exercises, the exercitant should advance his or her corporal well-being. In the same manner, utilising the physical fire for the performance of these exercises, the well-being and nourishment of all physical existents should be advanced.

प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नोऽ अग्निर्नोः सायंसायं सौमनसस्य दाता ।

वसोर्वसोर्वसुदानऽ एधान्धानास्त्वा शतं हिमाऽ ऋधेम ॥ 4 ॥

The second text given above reiterates the idea in the first, with this difference that the exercitant entertains the desire that he or she should enjoy the full Span of life a hundred Winters —Years—with the full increase of health and wealth, and that performing these sacrifices he or she may always be saved from all harm.

तस्माद्ब्राह्मणोऽहोरात्रस्य संयोगे सन्ध्यामुपास्ते ।

सज्योतिष्या ज्योतिषो दर्शनात्सोऽस्याः कालः सा सन्ध्या तत्सन्ध्यायाः

सन्ध्यात्वम् ॥ Sadvamsabrahmanam, 4;5,3 ॥

This, the third text lays down that the devotee of God should perform his or her devotional exercise at the junction of night and day. The time for the twilight meditation is just where the time of day seems to meet night-time—the termination of the dark or moonlit night by the gradual rising of the sun. The exercitant should not think of anything else at this time, adore no other being, finite or imaginary, but regularly and straightway, engage himself or herself, heart and soul, in worshipping the Almighty God. This is the Twilight Adoration.

उद्यन्तमस्तं यन्तमादित्यमभिध्यायन्कुर्वन् ब्राह्मणो

विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते ॥ Taittireyaranyaka, 2,2,4. ॥

The fourth text given above says :—"It is only the devotee of the Supreme Being that adores the Eternal, Self-Effulgent and Immutable God Allpowerful at the time of sunrise and

sunset, that attains perfect bliss." From this testimony we understand that the adoration of God is to be performed regularly twice in the day.

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमार्कदर्शनात् ।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥ Manu 2:101. ॥
न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवबहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः ॥ 103 ॥

The Manusmrti also concurs in this, for it lays down (in the two stanzas quoted above) that, "the morning twilight adoration of God, the Creator of the universe, preceded by meditation on the signification of the Gayatri and other Vedic texts, should be commenced at about two hours before day-break and continued till sunrise, and the evening twilight adoration should begin just when the sun is about to set and terminated at the appearance of the stars. That man or woman who does not perform his or her morning and evening twilight adoration regularly should be reckoned to have fallen from his or her social status and used as such. Such a person should be made to mend his or her ways or to live like a menial. Such a one should not be allowed even to use the sacred thread, the emblem of the twice-born."

Hence we cannot but put it down as a rule of life that every man or woman should consider the performance of the twilight devotional exerecise to be his or her highest and inevitable daily duty, and worship God, the Lord of the whole universe, punctually everyday, morning and evening.

The Twilight Devotional Exercise

We now explain the first of the five great sacrifices of the Aryas, namely, the Twilight Meditation and Prayer, giving also an interpretation of the Vedic and other texts used in it.

The word 'Sandhya' means that action by which or that time at which the devotee fully meditates on God भक्ता सम्यक् ध्यायन्ति ब्रह्म यस्मिन् काले यस्यां क्रियायां वा । It means a devotional exercise in which the Supreme Being forms the

subject of the exercitant's meditation. The time for this meditation is twilight, that is, the dawn before sunrise and the evening just when the sun is about to set, when it is most opportune to praise, pray to, and experience the Presence of God.

Before commencing this exercise the exercitant should attend to the external cleansing of his or her person with water etc., and the internal mental purification of composing his or her self by renouncing (for the time being at least) all ideas of hate or inordinate attachment.

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।

विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥ Manu, 5.109. ॥

Laying down this principle in his treatise in the stanza quoted above, Manu says that the external cleansing of the body is to be done with water and the internal cleansing of the self by making the mind adhere to truthfulness, the soul to advancement by the acquisition of right knowledge and performance of austerities, and the intellect by serious scientific study. But the purification of the internal self, being more important than the external cleansing of the body, is to be preferred to the latter and always attended to in as much as it is the *sine qua non* for right and successful meditation, the only means, for the attainment of a vision of the Supreme Being. Then the exercitant should sprinkle water slowly over his or her head, eyes, and other parts of the body with a few blades of the Kusa grass or with the right hand itself so that lethargy may be warded off. This is to be done only in the case of necessity and not otherwise

After this, the exercitant should perform three deep breathings by first expelling the breath through the nostrils and then stopping breathing as long as possible. The second step is to inhale slowly as much fresh air as possible, and then retaining it inside for some time, after which the first step is to be repeated slowly. For three deep breathings the exercitant has to repeat each of the two steps thrice. The exercitant should then tie up his or her hair of head or manage to keep it covered so that it may not become a source of distraction during the

exercise, reciting the Holy Gayatri all the while. This is a great prayer to God to be our Helper and Protector in all our undertakings.

1. Aachamanam—The First Symbolic Sipping of Water.

शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शंयोरभिस्रवन्तु नः ॥ Yaju. 36:12 ॥

This is the twelfth stanza of the thirty-sixth chapter of the Yajur-Yeda, which is to be recited while sipping the water at the beginning of the Sandhya. The word अप् is derived from the root आप्लृ meaning 'to pervade,' and is always used in the feminine gender and plural number. The word देवी is derived from the root दिवु meaning 'to sport', etc. The text means :

"May the Omnipotent God, the Illuminator of, and the Bestower of bliss upon all, be so gracious as to impart to us the prosperity and happiness desired by us in our earthly life and also the perfect bliss of final emancipation. May He ever shower His blessings upon us and make us happy". Thus praying to God with this text, the exercitant should thrice sip a little water. If no water be available this sipping need not he done but the prayer should be offered simply by reciting the text. The purpose of the sipping is to clear the throat of phlegm or any such obstruction.

यत्र लोकांश्च कोशाँश्चापो ब्रह्मजना विदुः।
असच्च यत्र सच्चान्तस्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ 7,10.

The above text is our authority in interpreting the word आपः as we have done here above. अप् is the name of the Supreme Being ब्रह्मन् in Whom all the worlds, the primordial atomic matter, the original source of the universe, the unmanifest subtle element, ether, etc. and the gross, concrete things, the evolutes of primordial matter, ever remain stable. He is also called स्कम्भ the Firm. If someone were to ask what nature of being, He is and where, the answer is :—He

is Immanent in all and Pervades all. Understand Him alone to be the Deity you aspire to attain and Worthy of your adoration.

2. Indriyasparsha, i. e. Prayer Accompanied by Symbolical Touching of Parts of the Body.

ओ३म् वाक् वाक् ।। ओ३म् प्राणः प्राणः ।। ओ३म् चक्षुः चक्षुः ।। ओ३म् श्रोत्रं श्रोत्रम ।। ओ३म् नाभिः ।। ओ३म् हृदयम् ।। ओ३म् कण्ठः ।। ओ३म् शिरः ।। ओ३म् बाहुभ्यां यशोबलम् ।। ओ३म् करतलकरपृष्ठे ।।

Translation :—ओ३म् Oh Almighty God, Protector of all वाक् whether I possess the faculty of oral speech, or being dumb have it not, वाक् give me the grace to realise the true purpose of expressing myself in any way. ओ३म् Oh Almighty God, saviour of all, प्राण: teach me the proper use of my olfactory organ and प्राण: the mouth, both means of in-breathing and out-breathing. ओ३म् Oh Almighty God, Keeper of all, चक्षु: whether I possess the faculty of seeing, or being blind have it not, चक्षु: give me the grace to realise the true purpose of visualising things. ओ३म् Oh Almighty God, Master of all, श्रोत्र: whether I possess the faculty of audition or being deaf have it not श्रोत्र: give me the grace to realise the true purpose of listening to and grasping what is uttered by others. ओ३म् Oh Almighty God, Controller of all, नाभि: give me the grace to understand aright the use of the forces of my body centred in the umbilical region without which life is impossible ओ३म् Oh Almighty God, Sustainer of all, हृदयम् give me the grace to understand aright the use of all the forces of my body centred in the cardiac region without which life is impossible. ओ३म् Oh Almighty God, Supporter of all, कण्ठ give me the grace to understand aright the use of all the forces of my body centred in the region of the throat without which life is impossible. ओ३म् Oh Almighty God, Overseer of all, शिर: give me the grace to understand aright the use of all the forces of my body centred in the brain without which no life is possible. ओ३म्

Oh Almighty God, Mightiest of the mighty give me the grace to realise that बाहुभ्याम् the right use of one's arms or physical strength is to do deeds that would advance one's power corporal, mental and spiritual, and fetch one good repute. ओ३म् Oh Almighty God, Felicitator of all करतलकरपृष्ठे give me the grace to realise that my hands, bodily strength, and all that I possess are intended for the purpose of welcoming all my brethren with open arms, and to keep all my transactions with my fellowmen, above board.

Touching the parts of your body while repeating this formula pray to God that may be safe and sound.

(With a few blades of Kusa grass, or the index and the middle finger of the right hand dipped in water kept in a small clean vessel near by, touch both the corners of your mouth, both the nostrils, both the eyes, both the ears, the navel, the pit of the neck, the crown of the head, the two shoulders, and the palm and back of each hand, respectively, while slowly uttering each part of the formula. This formula is not a Vedic text. It is taken from some ritualistic work or is modelled on such a word. The exercitant should bear in mind that he or she should utter the names of each part of body, and in this act, preference should be given to the Vedic Sanskrit language and style)

3: Marjanam, or Prayer Accompanied by Symbolical Sprinkling of water on Each Part of the Body :

ओ३म् भूः पुनातु शिरसि ।। ओ३म् भुवः पुनातु नेत्रयोः ।। ओ३म् स्वः पुनातु कण्ठे ।। ओ३म् महः पुनातु हृदये ।। ओ३म् जनः पुनातु नाभ्याम् ।। ओ३म् तप. पुनातु पादयोः ।। ओ३म् सत्यं पुनातु पुनः शिरसि ।। ओ३म् खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र ।।

Translation :=ओ३म् God Almighty the Illuminator of the multifarious universe, Subject of the Vedas and all the true sciences of learning and knowledge, the Refuge of the whole universe ; the Receptacle of the luminous planets, like the sun and the moon, He who imparts impulse to all beings, the

Self luminous ; the Omnipotent Judge, the Imperishable, the Knower of the whole universe ; may He भू: the Life-breath of all, भुवः the Dispeller of the tribulations of his devotees, स्वः the Imparter of true bliss to the righteous, महः the Mightiest and the Most August of all, जनः the Producer of all, तपस् Light and Intelligence by His Nature पुनातु strengthen and sanctify शिरसि the powers of my reasoning faculty, नेत्रयोः of my eyes and vision. कण्ठे of my speech and throat, हृदये of my heart, नाभ्याम् of my degestive and generative organism, पादयो of my locomotive organism. May the Ever True and Eternal, पुनः always पुनातु strengthen and sanctify the powers शिरसि of all the ramifications of my head at work. May ओ३म् Almighty God, Omnipresent in the whole universe like ether, ब्रह्म the Supreme Being पुनातु strengthen and sanctify सर्वत्र all the faculties of my body.

The sacred spmbol ओम् and the expressions भूः, भुवः, and स्वः, are explained under the Gayatri. God is called महः because He is the Greatest and the Most Adorable of all. As He is the Producer of the whole universe He is called जनः, He is called तपः since He is the Represser of the wicked and as true knowledge is His natural feature.

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते ।। Mundaka. I, 1,9

"He who is the Knower of all, He who exists in all and is accessible to all who are properly disposed, He Whose austerty with which He enlightens the righteous and represses the wicked is the true knowledge which He possesses by His Nature, from that Supreme Being, this universe, composed of all beings having their distinctive names and features, and their victuals, come into being."

This text is our authority here. He is called सत्यम् as He is Imperishable. As He is Omnipresent He is called ब्रह्म All these words are therefore the names of God. Thinking of

these significations of the names of God, the exercitant should slowly sprinkle each part of his or her body with water (conveyed by means of a few blades of Kusa grass or with the thumb, and the index and middle *fingers of the right hand*).

4. Formula to be Recied while making Pranayama.

ओ३म् भूः ॥ ओ३म् भुवः ॥ ओ३म् स्वः ॥ ओ३म् महः ॥ ओ३म् जनः ॥

ओ३म् तपः ॥ ओ३म् सत्यम् ॥ Taittiriyaranyaka 10:27. ॥

Translation :—ओ३म् Oh Lord God Almighty, Thout art भूः the Life-breath of all, भुवः the Dispeller of the tribulations of us, Thy devotees, स्वः the Imparter of true bliss to us Thy righteuos servants, महः the Mightiest and the Most August of all जनः the Producer of the universe and of each being in it, तपः Light and Intelligence by Thy nature and the punisher of the wicked, सत्यम् and ever Truthful and Eternal."

While muttering this formula thinking over the significations of each word in it, the exercitant should perform deep breathing as explained above. The devotee should, by this means give a fixity to his or her self and mind, and mentally merging himself or herself completely in the Supreme Being coexisting with the soul of everyone in His Most Beatific State, enjoy the pleasure of spiritual ecstasy. Like the diver diving in the deep and coming out washed clean the devotee should immerse his or her own self in the Omnipotent and Omnipressent God, the Fount of Right Knowledge and become sanctified.

5. The Aghamarshana Hymn

ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥ RV.-10 : 190, 1. ॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥ 2. ॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ 3. ॥

This Vedic text which along with a prayer to. and praise of God, gives advice to the devotee to be aloof from evil is called 'aghamarshana.' This hymn teaches us that :

"धाता the Almighty God, the Supporter and Protector of the universe. वशी the Controller of all has, यथापूर्वम् in this cycle of creations just in the same manner as in the previous cycles, created the word. and all physical beings including living creatures, according to the deserts of each soul in conformity with the good or evil done by every embodied being including man. that is by every individual soul in her previous embodied existence. सूर्याचन्द्रमसौ The sun and moon He has created and endowed them with the power to diffuse lustre now, just as He did in the previous creations. पृथिवीम् This earth we (live upon and) see अन्तरिक्षम् the expanse of atmosphere extended in space between the earth and the sun, दिवम् the different planetary 'worlds' that occupy space, have all been designed by Him as from eternity, च and He will again design them in the future creations just in the same manner.

God's mind never works contrary to scientific reality, for being perfect and infinite it ever works uniformly. Increase, decrease, and reversal cannot be postulated of God's Mind, hence the adverbial clause: "He created as before," is used in the text under comment.

मिषतः Without any effort on His part He has devised अहोरात्राणि night and day, hours, minutes and moments just as He did previously.

If somebody were to question from what material has God created the universe, the answer is that:

तपसः अधि अजायत God has created the whole universe out of His own Infinite Omnipotence, अभीद्धात् for the primordial cause of creation lies manifest in the 'Eyes' of God and is entirely in the power of His Providence. ऋतम् च With the same Infinite Omnipotence coexisting with His Omniscience He has revealed the source of all right scientific knowledge, the Vedas, as in the previous ages and He will do so in the

future ages also, सत्यम् च अधि अजायत The external atomic matter endowed with the three characteristics of being, action and reaction, otherwise called the immanifest, the indistinguishable being, principal, and primordial matter, which is the cause of the universe composed of gross and subtle entities has become evolved in the form of various material effects just as in the previous creations. ततः रात्रि अजायत In compliance with the Omnipotent Providence of God the post-deluvial night of chaos covering a period of time equal to one thousand quarters of cycles succeeds creational cycles in each age.

तमऽ आसीत्तमसा गूऽहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमाऽ इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् ।। RV. 10: 129,3।।

The Rg. vedic text states this truth. Every cycle of creations, according to this authority, is preceded by a period of time during which all 'things' and all (migratory) souls remain enveloped in darkness. This is the great post-deluvial night, that is, the night after the dissolution of the universe.

समुद्रः It is according to the Omnipotence of God that subsequent to this the vast expanse of water under and over the surface of the earth, as well as अर्णवः in the form of vapour in the atmosphere, the source of rain-clouds, has come into being as in the previous creations, समुद्रात् अर्णवात् which is followed by संवत्सरः अधि अजायत the division of time into years (months, and days,) hours, minutes and seconds. विश्वस्य From the Vedic Lore to the earth, the whole universe has become manifest only through God's Omnipotence. God has created all beings, is Immanent in each, takes account of the good and evil deeds of each, and in an impartial manner dispenses to each the fruit of his or her action in perfect equity.

It is but meet that every man and woman, therefore, realising this truth definitely, should so dispose his or her soul as never to fall into any sin either in thought, word or deed. This is what is called 'aghamarshana', which means the complete

discarding of all inclination to sin, knowing that God witnesses whatever is going on in the inner-most recesses of the heart of every one.

The purport is that the exercitant revolving the meaning of these stanzas in his or her heart should praise God, that is, meditate on His Divine Attributes, and then pray to Him for help in all good undertakings. The devotee should ever try to feel sincere compunction at his or her foibles realising that assuming the body of a human being he or she has not been able to do any good to the world. God has created multifarions things for the benefit of all creatures in the world. May God help us in this our resolve that we may always impart happiness to our fellow-beings.

The devotee should then feel himself or herself in the Presence of God and adore Him. The adoration of God is twofold, namely, one in which you think of Him as a Being endowed with His Divine Attributes, and second that in which you imagine Him to be free from certain other attributes. In the first method of adoration you meditate on God as Almighty Merciful, Just, Intelligent, Omipresent, Immanent, the Producer of all, the Supporter of all, Auspicious, Holy, Eternal, having right Knowledge and Bliss as His distinctive features the Bestower upon His devotees of righteousness of conduct of riches and other means, of fulfilment of great aspirations, and of final emancipation, the Father, Mother, Kinsman and Friend of all the king and Judge Divine. In the second method you contemplate on Him as the Beginningless and Endless, that is, having no begining or end either in time or space to His Being, Unborn and Deathless, that is who is neither born nor dies, the Formless and Changeless, that is, having no shape and undergoing no mutation in any manner, of Whom colour, taste smell, touch and sound, cannot be postulated; Who is untouched by injustice, unrighteousness, disease, blemish, ignorance, and impurity; Who cannot be transformed, cut, fettered, perceived by the senses, grasped and shaken ; Who never grows small or big, sorrowful or joyous ; and Who never does anything contrary to reason.

6. The Second Symbolical Sipping of Water.

The exercitant should now recite the text शन्नो देवी given on P. 213 again and sip water thrice as before.

7. Manasa Parikrama मनसा परिक्रमा ॥

A Mental Vision of God in All the Quarters

प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषव । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्योऽ अस्तु । यो३ ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्त वो जम्भे दध्मः AV. 3 : 27, 1. ॥

(Facing the eastern quarter. where Thy sun rises, or) in that quarter which I face now, I see, with my mind's eye Thee the Self-Effulgent God the distinctive feature of whose Nature is perfect right knowledge, the Master of the whole universe, the Unfettered, the Protector of all in every way. The rays of Thy Lustrous orb the sun, the years, seasons, months, fort-nights, weeks, days and other time divisions brought into being by the contact of the sun and the earth, Oh God are Thy weapons—arrows—means to protect us and whomsoever—Thy saint or sinner—out of our ignorance we feel inimical towards,—the weaknesses of all these including ourselves Thy devotees, the causes of such hostilities we shove into the mouth of Thy Just Dispensation that all our dross may be burnt off cleansing us and making us bear friendship and brotherly love towards each other.

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्योऽअस्तु । यो ३ स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥२॥

Oh Almighty God in the southern quarter to my right, with my mind's eye I visualise Thee, the Master of all power and self. Thou utilisest even the lowest strata of Thy creation, the hosts of invertebrates for the protection of Thy creatures, in various ways. In this Thy creation, the righteous persons who devote their lives to the working of the good of the world are Thy weapons—arrows-means to protect us from all harm. (The rest as before.)

प्रतीची दिग्वरुणोधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्योऽ अस्तु । यो ३ स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥३॥

Oh Lord God, in the western quarter behind me, I see, with my mind's eye, Thee the Mightiest of kings as the Master and Protector of all, utilising in Thy Dispensation such creatures, of Thy creation as the vertebrates, including poisonous snakes, pythons, and other animals for the safety of Thy devotees, having at Thy disposals as Thy weapons—arrows—means of defence, the various types of articles of food for the safety of the good and the punishment of the wicked. (Tne rest as before.)

उदीची दिक्सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताऽशनिरिषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्योऽ अस्तु । यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥४॥

Oh Almigniy God, in the northern quarter to my left, I visualise, with my mind's eye, Thee, our Gentle and Noble Divine Patron. showering blessings of peace and bliss on Thy devotees, the Overlord of the universe. manipulating through Thv mighty, eternal Providence, the force of electricity (having full access to the structure of all physical bodies,) and other forces of Nature as Thy weapons—arrows—means of defence for the benefit of the righteous and industrious, and for the punishment of the evil. (The rest as before.)

ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्योऽ अस्तु । यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥५॥

Oh Almighty God, in the nadir below, just opposite to where I stand, I see with my mind's eye, Thy Omnipresent Providence as the Controller and Master of all creation, utilising as the Protector of life, green trees and plants like necks, so to say, to swallow up the impure gases diffused in the atmosphere, and edible creepers or herbs which grow in abundance as Thy

weapons—arrows—means of defence for the safety of Thy devotees. (The rest as before.)

ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्योऽस्तु। यो ३ स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ ६

Oh Lord God, in the zenith overhead, I see, with my mind's eye, Thee the Protector of all great beings—of the Vedas to be the Overlord of the whole universe, ordaining everyone devoting his or her life to the safeguarding of the material, moral and spiritual advancement of the human race, to protect Thy creatures, and utilising the rains (and other seasonal natural phenomena) as Thy weapons - arrows means of defence for the safety of Thy devotees from harm, (The rest as before.)

8. Upasthana, i.e., approaching the Presence of God.

उद्वयन्तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।

देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥ YV. 30 : V, 14

Translation :—This and the following three stanzas contain prayers and praises with which the devotee approaches the Divine Majesty of God. Oh Almighty God, Thou art beyond the influence of anything that tends to obscure or darken, for Thou art Lustrous by Thy Divine Nature. Thou ever remainst the Same even after the dissolution of the universe. Thou art the Mightiest among the mighty, and the Illuminator of those beings that impart lustre. Thou art the Impeller of all to action. Thou naturally possessest the Lustre of right Knowledge and art the Greatest of all in goodness. Hence we have approached Thy Divine Majesty through truthfulness in thought, word and deed. It lies in Thy Hands, now to protect us, for we have come to Thee for refuge.

उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।

दृशे विश्वाय सूर्यम्॥ YV. 33 : 31. ॥

Translation :—The four Vedas, the Rg-Veda, the Yajur-Veda, the Sama- Veda and the Atharva-Veda were revealed by

Him. He pervades primordial matter and all the elements (and other beings). He is the Producer of the whole universe and hence the Almighty God is called जातवेदस् He is the noblest of all the noble and the Illuminator of the universe, comprising all beings, animate and inanimate. Let us adore that Almighty God that we may be blessed with all right knowledge. The four Vedas the distinctive features of each individual being in the world, namely their creation, etc. serve as signals to lead us on to Him alone. We should adore only that God Almighty the Immanent Mover of the whole universe and no other being.

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्ष ँ् सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ॥

YV. 7 : 42. ॥

Translation :—The 'Soul', that is, the Mover of all beings, animate and inanimate. is called सूर्य here.

He Who is the Creator, Supporter and Protector of the sun and all other heavenly bodies, the Enlightener of him or her who, free from likes and dislikes, is the well-wisher of all alike, the Imparter of lustre to lustrous bodies like the sun, and the Energiser of the vital force itself ; the Encourager of him or her who devotes himself or herself to works of righteousness, and the Actuater of the twofold vital energy, namely, the enlivening and the cleansing, and of the thermic force ; the Sublimest by His Divine Nature ever shining in the hearts of His righteous devotees ; and the Omnipotent Fire that Consumes all the miseries and ills of the righteous, may That Great God reveal His actual Self in our hearts.

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतम् प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ YV. 36 : 24. ॥

Translation :—The Supreme Being, the Seer of all, the Great Benefactor of those who are learned and righteous, and the Maker of the universe, Who is ever in His True and Most

Beatific State in it before. behind it, (or after its creation), and in or during its existence ; may we live and be able to have the Divine Vision of that Almighty God for a hundred winters (years) the full span of our life, may we live in Him for a hundred years, may we hear His Vedic Word for a hundred years, may we, by His Grace, be free, and suffer no humiliation of any sort through corporal or mental infirmity all our life; nay, may we live with our sight, hearing. speech, intellect and all other faculties unimpaired, enjoying freedom even for more than a hundred years. May we live the full span of life with the perfect health of body, mind, and soul and in true bliss.

Only this Supreme Being is the One God worthy of being adored by all mankind. Those who forget Him and take to the worship of some or other wretched finite creature, (some idol, stock or stone, or metal image, some human being or beast, some reptile or worm) live like beasts, bowed under the burden of multifarious miseries all their lives (insentient to all humilities and privations). Hence the devotee should meditate over the vast signification of these beautiful Vedic prayer texts while slowly muttering them, attempt mentally to approach the Divine Majesty of God and totally immerse his or her soul in that Ocean of Mercy and feel the joys of spiritual ecstasy.

This is the meaning of 'upasthana' उपस्थान

The Great Savitri

ओ३म् भू र्भुवः स्वः ।। तत्सवितुर्वरेण्यम्भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ।।

Rg-Veda, 3 : 63, 10 ; Yajur-Veda, 3 : 25 ; 22 : 9 ; 30 : 2 ; 36 : 3 ; Sama-Veda, 2 : 6,3 ; Atharva-Veda, 70, (only by 'proxy,' that is, not the very Gayatri itself but its eulogy).

The sacred Syllable ओम् , composed of three letters अ, उ, and म् , is the greatest of all the Names of God, for, it connotes the significations of all the other Names of God. For example, take the first letter entering in the make-up of this syllable, अ. This means, विराट्, (1), 'Perfectly Resplendent, which, as

applied to God, indicates that He is the Illuminator of the multifarious universe. (2) अग्नि, 'Self-Effulgent,' 'Fore Most', etc., that is, He possesses true knowledge by His very Nature, and is acces sible to His devotees everywhere. (3) विश्व: 'Abode', or 'Habitat that is, in God the whole universe has its residence, so to say, and Healso has His access to every part of the universe.

The second component of the sacred Syllable, उ means : (1) हिरण्यगर्भ, having the sun and other lustrous heavenly bodies in His 'grasp', and He who is the Maker of all these lustrous planets. The synonyms of ज्योति: 'light' are हिरण्यम्, अमृतम्, and कीर्ति :- (2) वायु: Impeller,' 'Propeller,' for He has infinite powers, and is the Supporter of the universe. (3) तैजस:, 'Source of the whole mass of lustre,' for He is Lustrous by His very Nature and the Illuminator of the whole universe and every being in it.

The last component of the Syllable, म्, means (1) ईश्वर:, 'Almighty God,' as He is the Creator of the whole universe, the All powerful Master of all, and the Maker of justice. (2) आदित्य: the Imperishable. (3) प्राज्ञ, Whose Nature itself is right knowledge, and Who is Omniscient.

This, in brief, is the interpretation of the sacred Syllable ओ३म्.

Now we explain the other sacred Syllables महाव्याहृतय: that is 'Great Utterances.' (1) The first is भू:, It is the nature of the vital force that it energises the living body. As Ishwar is the Cause of our existence and is dearer to us than our life itself, He is called भू: (2) The second is भुव: This means the other vital force that cleanses the living body of impurities and encumbrances and imparts it ease and agility. God ever keeps all His devotees, deserving final emancipation and striving for it, aloof from all evil and gives them their desired bliss in 'this' very earthly life aftermaking them fit to receive it. Hence He is called भुव:. (3) स्व: is the vital force that circulates in the whole body and propels the current of blood all throughout the system. God permeates the whole universe, keeps all beings

under control, and is the Abode of all. Hence He is called स्वः.

The exercitant should always utter these four Syllables before the Gayatri during his or her meditation or recitation.

Now we explain the Gayatri Itself.

Savituh—सवितुः—Who is the Creator of the whole universe and the Bestower of power and pelf upon His devotees,

Devasya-देवस्य—Who is the Enlightener of the souls of all and the Imparter of all bliss,

Varenyam-वरेण्यम्—Who is the Most Acceptable, and

Bhargah-भर्गः –Whose Nature is Pure Intelligence,

Tat-तत्—Him,

Dheemahi-धीमहि—Shall we surely entertain in our souls with the utmost love and devotion.

What is the purpose of this endeavour ?

Yeh-यः—For He is God Almighty, and He,

Nah-नः our

Dhiyah-धियः—intellectual faculties,

Prachodayat-प्रचोदयात्-shall always safe-guard us from all evil that we might otherwise fall into and lead them on to do only what is good.

Hence it is incumbent upon every man and woman, every boy and girl, able to grasp things, to adore only the One, True, Almighty God, described in this great Vedic text, the Gayarti, That God who is Absolute Intelligence and Absolute Bliss by His very Nature, the Everknowing, Ever-free, Unborn, Deathless, Formless, All-Powerful, Omnipresent, Merciful, the Maker and Supporter of the whole universe, so that all may be devoted to Him and attain the inclination and ability, to do righteous deeds, to acquire means of life by just methods and

means, may secure fulfilment of noble aspirations and in the end acquire final emancipation during this earthly life itself.

None should adore any other being, finite or imaginary. This, in short, is what the Gayatri teaches.

The 'Offertory'

Having praised and worshipped Almighty God by reciting Vedic texts and meditating upon their significations, the exercitant should then perform the 'Offertory' as prescribed below:

हे ईश्वर दयानिधे—Oh Lord God Almighty, Infinite Fount of mercy,

भवत्कृपया यत्किंचउत्तमम् कर्म अस्माभिः कृतमस्ति—by Thy Gace whatever good deed has been done by us,

तत् सर्वम् all that,

इदम् च जपोपासनादिकर्म—and this performance of our devotional exercise of the recitation of the texts of the Holy Vedas, Thy adoration and other acts,

तुभ्यम् एव समर्पयामः—we whole-heartedly offer to Thee.

यथा भवत्कृपया—so that by Thy Grace,

विश्वस्य कर्तारम् पालकम् अस्मादृग्भ्यः स्वभक्तेभ्यः सर्वसुखानाम् प्रदातारम् च सम्यक् प्राप्य—fully attaining Thee the Maker and Sustainer of the universe and the bestower of all happiness on Thy devotees like ourselves,

वयम् अस्मिन एव जन्मनि अस्मिन् एव संसारे शीघ्रम्—we may soon, in this very life, and in the performance of our these very worldly duties.

पुरुषार्थचतुष्टयस्य सिद्धि सम्पादयेम—fully achieve the accomplishment of the four-fold ideal of human existence,

अर्थात्—that is,

अस्माकम् लौकिकव्यवहारे एव सत्य-न्याय-आचरण रूपम् धर्मम् समाचर्य—following in our daily duties themselves the law of righteousness

consisting in the practice of truthfulness in thought, word and deed, and of justice in our dealings others,

धर्मेण जीवनावश्यकपदार्थानां-प्राप्तिरूपम् अर्थम् संसाध्य—fully achieving our object by acquiring all the means necessary for our earthly life strictly in accordance with the law of righteousness,

धर्मार्थाभ्याम्-सम्यग्व्यवसिताभ्याम्-इष्टानाम्-भोगानाम् महतीनाम्-आकांक्षाणाम् च पूर्तिम् सम्प्राप्य—fully attaining the fulfilment of our desired objects and great aspiration by thoroughly adopting in our daily life the laws of righteousness and just acquisition of riches,

अस्मिन जन्मनि शरीरपतनात्-प्राक्-एव सर्वदुःखक्लेशदोषोच्छेदरूपम् मोक्षम् समासादयेम—we may certainly attain in this life before our corporal existence comes to an end, final emancipation in the form of the extirpation of all our sufferings, miseries, and evil inclinations,

सर्वत्र सर्वथा सर्वदा ज्ञानचक्षुषा परमात्मनः दर्शनरूपम् आनन्दम् च अनुभवेम—experience, everywhere, in every way and always, the joy of the Vision of God by our mind's eye.

कृतकृत्याश्च भवेम—and have the satisfaction of having acquitted ourselves well in life.

Obeisance

After this 'offertory', the exercitant should make obeisance to God, by devoutly reciting the following text :—

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च ।

च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥ YV. 36 : 41.

Let us now bow in awe before God Almighty.

The Infinite Source of all happiness, The Untiring Disburser of earth's joys sublime,

The Fount Unfathomable of all that is auspicious,

Whose Being is Eternal Bliss,

Author of all that is Good and only Good,

Donor of all joys to His devotees,

Impeller of the righteous in the execution of what is right,

The Most Holy and Most Majestic,

Who alone has the power to bestow final emancipation upon His righteous servants,

Obeisance! Obeisance to the Supreme Being.

ओ३म् । शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

Benediction and Prayer for Peace

May there be peace to all from external physical entities, may there be peace from our internal feelings, our own selves, and may there be peace from Divine Justice and Wrath.

●

Prayers and Exhortations

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।

यद्भद्रं तन्न ऽ आ सुव ।। YV. 30 : 3. ।।

Oh Lord God Almighty, Creator of the universe, (and Source of all great beings), of Holiest nature (and Dispenser of true happiness, be gracious, we beseech Thee, to dispel all our miseries (vices and evil propensities) and to bestow upon us what is good.

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽ आसीत् ।

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ।। YV YV. 13:4. ।।

Regulating the faculties of the soul and the mind and living upright lives, with fervent devotion, we should serve Him Who is Blissful and Holy, the well-known Self-Effulgent Creator, (Supporter and Illuminator) of all luminous bodies like the sun, the One Master of the universe Who existed from all eternity before creation. It is He that sustains this earth, (the intermediate region) and the heavens.

यऽ आत्मदा बलदा यस्य विश्वऽ उपासते प्रशिषं यस्य देवा: ।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्यु: कस्मै देवाय हविषा विधेम ।। YV. 35: 13. ।।

Let us busy ourselves heart and soul. in the practical observance in our daily lives of the Commandments of that Bliss-imparting God, Who giveth to the devout true knowledge of (Himself as well as of) the soul. Who blesses individuals and societies (that remember Him), with strength, physical, moral and spiritual, Whom all the enlightened adore, and Whose visible and truthful rule in the universe the righteous acknowledge, Whose Omnipotent Providence shadows us both in final emancipation and death.

य: प्राणतो निमिषतो महित्वैकऽ इद्राजा जगतो बभूव ।
यऽ ईशेऽ अस्य द्विपदश्चतुष्पद: कस्मै देवाय हविषा विधेम ।। YV. 33: 3. ।।

Let us offer all the best we have, and devoutly resort to that Blissful God, the Giver of all wealth, Who, in His infinite Glory, is the One and Sole Ruler of all creation, animate, and inanimate,— of the very breathing and winking of eyes of every living being—bestowing (with His unfathomable Wisdom) corporal existence on all creatures—bipeds (like men), and quadrupeds (like the cow) and all other beings, and controlling them

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढ़ा येन स्वः स्तभितं येन नाकः ।
योऽ अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।। YV. 32: 6. ।।

Let us adore with all the strength of our body, mind and soul, that Blissful Supreme Being, the Lord of all our desires, by Whom the formidable sun, the earth and other planets are fixed (in their orbits), by Whom the quota of earthly happiness and the enjoyment of final beautitude according to the deserts of each finite being (endowed with life) are established on a firm basis, and Who (after the period of the dissolution of the cosmos is over) creates the different planets (or worlds) and sets them moving in space (lets them fly like birds, so to say, in different directions in the welkin).

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नोऽ अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ।।
RV. 10 : 121, 10 ।।

Oh Lord of all creatures, no other than Thou can control and govern all these created things. May the things desiring which we pray to Thee be ours. May we be lords and protectors of all good things of the world.

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ।। YV. 32 : 10 ।।

To His devotees, He is kind and loving like a sincere kinsman. He is the Producer and Disposer of the entire universe (seen and unseen), He knows (by direct contact) all the worlds, and the name, place and source of everything (visible and invisible). The Source of final beatitude (infinitely above the vanishing joys of the world and untouched by its shortcomings and miseries), in Him do the enlightened attain final emancipation (and move about freely with absolutely no hindrance of any kind in space, having free access to all the worlds, all places and everything according to their wishes).

अग्ने नय सुपथा रायेऽ अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमऽ उक्तिं विधेम ।। YV. 11 : 16 ।।

Oh Self-Effulgent, Omniscient, and Omnipotent Lord, we offer unto Thee profound obeisance and praise. Cast out from us all debasing and sinful desires and habits and lead us, by the path of righteousness, to the attainment of all true knowledge that we may enjoy perfect bliss.

★

The Havana

The Vedic sacrifice of burnt offerings होम, हवन, or अग्निहोत्र, as it is called in Sanskrit, is to be performed both morning and evening (for the purification of the air, the keeping alive of the study of Sanskrit and the Vedas, and as a symbolic ritual to remind men, women and children that they have to put forth effort to advance materially, morally and spiritually always invoking upon, and fortifying themselves with a firm living faith in God, the Source of all strength, making it a point to study the Sanskrit language and read His Vedic Word regularly).

1. Sipping of Water

(a) ओ३म् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥

Oh Almighty God, Thy Omnipotent Providence is the Receptacle of our final beatitude. Teach us that we may realise this truth.

With the uttering of this text all the performers of the sacrifice, or those who sit nearest the fire-place, should sip water once as already explained. The water should be provided in small clean metal cups.

(b) ओ३म् अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥

Oh Almighty God, Thy Omniscient Providence is the safety of our final beatitude. Grant us the grace that we may realise this truth and live up to it in thougnt, word, and deed. With this the second sipping is to be done as before.

(c) ओ३म् सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥

—तैत्तिरीयआरण्यक ॥१०।३२॥३५॥

Oh Most Merciful God, may the strength of truth, a good

name, the regard of great deeds, wordly prosperity and spiritual advancement resort to our endeavours for our good as well as that of others. May we lay claim only to what is ours and never court others' possessions.

With this the third sipping is to be performed.

2. Symbolic Laving of Parts of the Person

(a) ओ३म् वाङ्म आस्येऽस्तु—Oh Almighty God, may my tongue and all the organs of utterance be ever blessed with the full power of speech

(b) ओ३म् नसोर्मेप्राणोऽस्तु—Oh Almighty God, may my nostrils (and the trachea) be the receptacles of healthy vital air,

(c) ओ३म् अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु—Oh Almighty God, may my eyes be ever blessed with perfect power of sight.

(d) ओ३म् कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु—Oh Almighty God, may my ears be ever blessed with perfect power of audition.

(e) ओ३म् बाह्वोर्मे बलमस्तु—Oh Almighty God, may my arms be ever blessed with the strength of prowess.

(f) ओ३म् ऊर्वोर्मेऽओजोऽस्तु—Oh Almighty God, may my thighs be ever blessed with the strength necessary for quick motion and endurance in travel.

ओ३म् अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु ॥

पारस्करगृह्यसूत्र ॥ १।३।२५ ॥

(g) Oh Almighty God, may my (these and) all other limbs of my body be safe from all harm, rendering my whole body healthy and sound for my life's work.

While uttering (a) to (f) dip two fingers of the right hand each time in water and touch the respective parts on both sides and while reciting (g) dip the right hand in water and wash both the hands.

3. Putting Fire in the Sacrificial Dish

(a) ओ३म् भूर्भुवः स्वः ॥

Gobhilagrhyasutra, I, I, II.

For the Glorification of Thee, Oh God, Almighty, the Energiser of the whole universe, the sanctifier of Thy devotees and the Controller of, and the Imparter of the bliss of final emancipation to, the righteous, we now commence this sacrifice.

For this sacrifice the performers should provide themselves with a liitle earthen lamp or a little metal dish, with a small quantity of pure (preferably cow's) molten butter and a cotton wick in it. This lamp should be lighted (preferably with tinder) and a bit of pure indigenous camphor (with no adulterants, such as animal fat) ignited from this lamp should then be put in the metal sacrificial dish among little sticks of Sandal, Ficus Religiosa, Mango, Wild Fig, Banyan, Butea Frondosa or the Silk Cotton tree, already arranged for the sacrifice. After chanting the above text, while this is proceeding the following stanza should be recited :—

(b) भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा । तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे ॥ YV. 3:5. ॥

I establish, for the purpose of obtaining all sorts of food, the sacrificial fire which consumes all food (fuel) offered in it, on the bed of the hearth directly in contact with the surface of the earth well known as the place where the righteous perform their good deeds—the fire which on account of its most potent properties can be compared to the vast celestial region or the excellent earth itself, and which in principle is identical with the ultimate source of thermic energy existing on the earth (as the physical fire), in the atmospheric region (as lightning), and in the heavens (as the sun).

4. Fanning the Sacrficial Fire

After the lighted camphor has been placed upon the sticks in the dish, a few more sticks should be placed over and

around the burning camphor, and the fire fanned to the accompaniment of the chanting of the following texts :—

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते स ँ सृजेथामयं च ।
अस्मिन्त्सधस्थेऽ अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ॥
YV. 15 : 54 ॥

Oh leader, arise thou and be wakeful in all thy activities. May thou and these people of thine work in union for the fulfilment of thy desires and the accomplishment of the works of public utility. May you all, all the elite and the worker of philanthropy, be established in the householder's stage the most important of all the stages of life.

5. Feeding the Fire with Fuel

When the fire is gradually spreading to all the sticks, three sticks of any of the trees mentioned already, measuring about eight finger-breadths (about five inches) each in length, should be dipped in molten butter and put one by one separately into the sacrificial fire in the dish to the accompaniment of the chanting of the followtng texts :—

(a) अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान्प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा ॥ इदमग्नये जातवेदसे । इदन्न मम ॥

Oh Almighty God, in Whom the Vedas have their origin, this my soul is Thy fuel. Mayst Thou get ablaze and advance in glory by the fire of Divine love consuming her, so that Thou wouldst surely bless us with worthy offspring, followers and dependents, with good cows and cattle, and fuse us together with clean, pure food and other things necessary for life of a quality entirely in keeping with, and acquired by means fully justificable by the sanction of, Thy Vedic Law, so that we may always abide by truth in thought, word, and deed.

All this we entreat of Thee, we ask only for the glory of Thy Name Who knowest all born beings, and not actuated by any selfish motives.

With this put one stick in the dish.

(b) समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् । आस्मिन्हव्या जुहोतन स्वाहा ॥ (YV. 30 : 1.) इदमग्नये । इदन्न मम ॥

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन । अग्नये जातवेदसे स्वाहा ॥ (YV. 3 : 2.) इदमग्नये जातवेदसे । इदन्न मम ॥

Oh doer of good works, set the sacrificial fire ablaze by means of good fuel and pure fragrant and invigorating material like clarified butter, feeding it with all good disinfecting and nourishing articles as you would entertain a respectable guest. You should liberally offer in it pure and healthy things worthy of sacrifice.

Vouchsafe me the purity of motive, Oh Lord, that this act which I perform now, and all other actions of my life, I may do only for the glorification of Thee, the Leader and Enlightener of all, and offer all up to Thee, never priding myself over it or thinking of arrogating to my own selfish ends the fruit of any of them.

When the sacrificial fire is thus well lit you should offer into it molten butter.

With these two texts, put in the second stick.

(c) तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि । बृहच्छोचा यविष्ठ्य स्वाहा ॥ (YV. 3 : 3.) इदमग्नयेऽङ्गिरसे । इदन्न मम ॥

This sacrificial fire if we utilise it properly, feeding it with suitable fuel and water, can be a means of locomotion, of conveying things from one place to another, to illuminate places brightly, and will be most helpful in joining and disjoining gross material objects.

Vouchsafe us the wisdom to understand, Oh Lord, that this act which we perform now and all the actions of our life, we have to do and offer up to Thee for the glorification of Thy Name, Who art the Self-effulgent Enlightener of all and the

Inner Self that impels the whole universe, so that we may have no selfish contact with any of our deeds.

With this put in the third stick,

6. Oblations of Molten Butter

अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान्प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा ॥ इदमग्नये जातवेदसे । इदन्न मम ॥

[For translation see (4) (a).]

This text should be recited five times, each time an oblation of molten butter being poured with a ladle (or spoon) over the fire in the dish.

7. Sprinkling of Water

(a) ओ३म् अदितेऽनुमन्यस्व—Oh Almighty God, Thy Providence is irrefragable ; condescend to accede to our wishes.

(b) ओ३म् अनुमतेऽनुमन्यस्व—Oh Almightv God, Thou art the Kindest and the Most Condescending, please accede to our wishes.

(c) ओ३म् सरस्वत्यनुमन्यस्व । गोभिल गृह्यसूत्र १।३।३॥—Oh Almighty God, Lord of Vedic Speech, condescend to accede to our wishes.

(d) देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय । दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥

May the great earth (and our fatherland) our impeller to deeds of glory fully bring about unity and solidarity amongst us, and may she, in a special manner, be the source of encouragement to him who is the protector of our unity and solidarity for our greater good. May Almighty God, the Wonderful Supporter of the universe, the Purifier of man's mind, purify our understanding, and may the Protector of the Eternal Vedic Law enable us to realise fully in our lives the truth of His Holy Vedic Speech.

Thee to be beneficial to the universal thermic, dynamic and optic energies and the universal vital force that energises the whole creation, the other vital force that Purifies it and the third that permeates it through and through unifying the whole, and that we should have no selfish contact with any of them.

(e) ओ३म् आपो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा ॥

Oh Lord God Almighty, vouchsafe that we may fully realise that thou art All-pervading, the Light of our souls, the Essence of our being, the Source of our final emancipation, the Great Supreme Being, the Cause of the existence of the whole universe, the Sanctifier of Thy devotees, and the Bestower of all happiness upon the righteous and industrious.

(f) ओ३म् यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते । तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥ YV. 32 : 14. ॥

Oh Self-effulgent God, make me a possessor of superior discriminative understanding by bestowing on me through my truthfulness of conduct that wisdom which the enlightened and the protectors of society, by Thy Grace, attain, and utilise.

(g) विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव । यद्भद्रं तन्न आ सुव स्वाहा ॥ YV. 30 : 3. ॥

(h) अग्ने नय सुपथा रायेऽस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठांते नमऽउक्तिं विधेम स्वाहा ॥ YV. 40 : 16. ॥

[For translation of (g) and (h) see pp. 230 & 232]

With each of these eight texts, offer one oblation of molten butter into the sacrificial fire along with an offering of fragrant and nourishing material by one person or any number of those present at the time of the sacrifice.

ओ३म् सर्वं वै पूर्णं ँ स्वाहा ॥

Oh Almighty God, everything in the universe Thou hast created is perfect in its own way and for the purpose it is intended to serve. May this sacrifice, and also every action of our life, be perfect, and may we Thy devotees also become perfect in every way as Thou art Perfect. ★

This should be uttered thrice by all present and three oblations of consummation, one each time, offered in the sacrificial fire.

Warning : Charlatans, sectarians and hypocrites do frighten and dissuade simple folk from performing the Sandhya and such other devotional exercises under certain circumstances. For example, it is maintained that the Sandhya adoration must be performed after bath. If this foolish advice were to be taken seriously the daily bath would become the *sine qua non* of one's daily devotions, with the result that, if one were not to bathe for some reason or other one would *ipso facto* be excused from the Sandhya. Again till one took one's bath one would be at liberty to utter any and every nonsense, attend to all worldly things first, read newspapers, quarrel with one's family and servants, and then after bath. hastily perform one's Sandhya and then go to one's business, excusing oneself very legitimately that there was no time ! The rule of the Brahma-murhurta, as the most appropriate time for the Sandhya and the recitation of the Gayatri, would then be absolutely null and void This is absurd. In none of the authoritative Smriti and ritual works is laid down that bath is necessary before the Sandhya. The cleaning of the teeth and bath are essentially hygienic items and though must be attended to daily, they cannot be allowed to interfere with the Brahmamuhurta sandhya, if one can't take his bath early in the morning, (and one ought to make it a habit to get up at about 4 or at the latest at 5 A M.) after attending to the necessary calls of nature and some washing just enough to clean one's hands and face and rinsing one's mouth, one ought at once to begin one's Sandhya adoration. When this over with due meditation, one ought to recite the Sacred Gayatri till in the morning the stars disappear from the sky, and the sun begins to appear on the horizon (and then will come the time for daily bath, etc), and in the evening till the stars begin to shine in the heavens. As for the recitation of the Sacred Gayatri at other time, that must be done throughout the day and night, whenever one has health and consciousness enough to utter those, little, easy ten words of Vedic Sanskrit. Men, women, and children, all who have their senses sound, and are not insane, must observe this rule, to which there is no exception.

★

Ishopanishad

★

ईशावास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ।।

1.—By one Supreme Ruler is this universe pervaded, even every world in the whole circle of Nature. Enjoy pure delight, O man, by abandoning all thoughts of this perishable world, and covet not the wealth of any creature existing.

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।

2. – Aspire, then, O man, to live, by virtuous deeds, for a hundred years, in peace with thy neighbours. Thus alone and not otherwise, will thy deeds not influence thee.

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।।

3.—To those regions where evil spirits dwell and utter darkness prevails, surely go, after death, all such men as destroy the purity of their own souls.

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।।

4.—There is one unchangeable, eternal, intelligent Spirit, even more vigorous than mind. Material senses cannot perceive Him. Therefore the sage withdraws his senses from their natural course and perceives the Supreme Being everywhere present.

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥

5.—He moves all, but Himself does not move. To the ignorant He is far, but to the wise He is at hand. He pervades inside and outside of all.

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥

6.—He who considers all beings as existing in the Supreme Spirit, and the Supreme Spirit as pervading all beings, cannot view with contempt any creature whatsoever.

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

7.—How can joy and sorrow overtake him who, through wisdom, perceives the Unitary Spirit as dwelling in all beings?

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

8.—He overspreads all creatures. He is entirely Spirit without the form either of a minute body, or an extended one, which is liable to impression or organization. He is the ruler of the intellect, self-existent, pure, perfect, omniscient and omnipresent. He has from all eternity been assigning to all creatures their respective purposes.

अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये ऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः ॥

9.—Miserable are they who worship ignorance; but far more miserable are they who arrogantly presume knowledge.

अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥

10.—Saints, wise and firm, assure us that ignorance, the life of senses, produces one result; and knowledge, the life of spirit produces exactly the reverse.

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥

11.—He, who realizes both, passes through physical dissolution by virtue of the life of senses, and enters into immortality by virtue of the life of spirit.

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्याँ रताः ॥

12.—Miserable are they, who worship atoms as the efficient cause of the world; but far more miserable are they who worship the visible things made of atoms.

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥

13.—Saints, wise and firm, assure us that the worship of atoms leads to one result, and that of things visible to the reverse.

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयँ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥

14—He, who realizes both, enjoys, after death which is the consequence of the worship of things visible, immortality, the fruit of the realization of Divine power displayed in atoms.

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।।

15.—"O Thou who givest sustenance to the world, unveil that face of the *true* sun which is now hidden by a veil of golden light, so that we may see the *truth* and know our whole duty."

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह । तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमन्तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ।।

16.—O Preserver, sage of sages, Ruler, Eternal Light and Life of the creation! gather up Thy rays, and collect thy Light, so that I may be able to feel Thy glorious presence full of beatitude. This alone is my earnest prayer.

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ शरीरम् ।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतँ स्मर ।।

17.—The air shall sustain the immortal spiritual body, the gross one shall only last till cremation. O thou! who hast sown the seed of deeds, remember that the same thou shalt reap.

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमउक्ति विधेम ।।

18.—O All-wise Being! Thou art the source of knowledge. Inspire us with Thy wisdom, lead us to rectitude, and drive off our evil. To this end, we repeatedly praise Thee and adore.

★

शान्ति पाठ

[श्लोकानुवादकः डा० दा० विश्वमित्रः, गौरीबिदनूर, मैसूर राज्यम्]

ओ३म् । द्यौः शान्तिरन्तरिक्षँ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्ति रोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्ति ब्रह्म शान्तिः सर्वँ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥ [यजु–३६-१७५]

सर्वस्य चोपरि यदस्ति सदैव तत्खम्, मध्यस्थलोक इह चास्ति यदन्तरिक्षम् ।
वाय्वादिवस्तु पुनरत्र यदस्ति भूयो, पृथ्वी च तत्र खलु वस्तु यदस्ति सर्वम् ॥१॥
नीरं च यो वसति तत्र पदार्थ एवम्, ये सन्ति चौषधगुणाश्च महौषधिर्या ।
एवं वनस्पतिगुणा हि वनस्पतिश्च, शान्तिप्रदायक विभो निरुपद्रवा स्युः ॥२॥
अशेषा विद्वांसोऽपि च निगममन्त्राद्युतिकृतो,
रवीत्याद्यास्तेषां किरणनिवहा इन्द्रियगणाः ।
परात्माऽसौ ब्रह्मा ननु निगम शास्त्र च जगति,
पदार्था स्थूला वाऽणव इति च सर्वे सुखमया. ॥३॥
परात्मन् ! हे ! शान्तास्तव च कृपयात्यन्तसुखदाः,
ममाप्येवं शान्तिर्भवतु च तथाहं विरहितः
सदा क्रोधाद्यैर्भो इह तव भवेयन्नु कृपया,
तथै वात्रस्थोऽसौ भवतु च सदा जीवनिचयः ॥४॥
ओ३म् ॥ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

O Lord that will give us peace by destroying miseries ! Let by your grace, that part of the space, which is uppermost be peace giving (worryless) and give us happiness also, That middle space, and those things that exist there such as air the earth and those things that exist theirein, water, the things exist therein, medicinal herbs and the qualities of these, the plant kingdom and the things that are therein all the Vedmantras that expose the Cosmos, our senses, the planets such as the sun etc., their rays and their qualities. The supreme Being and the Vedas, concrete and subtles substance, moving and unmoving iniverselet all these, O, Omnipotant Lord !! by your grace, be peaceful, to our advantage, and give us happiness. I may also be peaceful so that by your Grace, let me give up all anger etc. and so also let all the animals of the world be peaceful and without anger and worrying.

Let there be, O Lord ! peace in the individual, in the society and the World.

वैदिक साहित्य की

अनमोल पुस्तकें

श्रीमद्दयानन्द प्रकाश

[लेखक--स्वामी सत्यानन्द सरस्वती]

महर्षि दयानन्द सरस्ती का सुललित, भावपूर्ण श्रद्धामयी भाषा में लिखा हुआ एक मात्र प्रामाणिक सम्पूर्ण जीवन-चरित्र।

बढ़िया कागज, मोटे अक्षर, बड़े साइज के ६०० पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य केवल १०) रु०।

दो सनातन सत्ताएँ

[लेखक-श्री पं० रामचन्द्र देहलवी]

प्रस्तुत पुस्तक में श्री पण्डित जी ने 'जीव और प्रकृति अनादि काल से हैं' को अकाट्य युक्तियों से सिद्ध किया है जिनका उत्तर इस्लाम और ईसाइयों के पास नहीं है मूल्य १)।

राधास्वामी मत दर्पण

मूल्य २५ पैसे प्रचारार्थ २०) सैकड़ा

आर्य राजनीति के कतिय तत्त्व

श्री पं० भगवद्दत्तजी रिसर्च स्कालर लिखित

मूल्य ३० पैसे। प्रचारार्थ २२) सैकड़ा

महात्मा आनन्द स्वामी जी कृत

धर्मार्थ काममोक्ष प्रदायक पुस्तकें

तत्त्वज्ञान	३-००
प्रभुदर्शन	२-५०
प्रभुभक्ति	२-५०
आनन्द गायत्री कथा	० ७०
एक ही रास्ता	०-८०
मानव जीवन गाथा	१-००
भक्त और भगवान्	१-००
शकर और दयानन्द	०-५०
उपनिषदों का सन्देश	१-२५
सत्यनारायण कथा	०-६२
घोर घने जंगल में	२-००
महामन्त्र	१-००

भारतीय संस्कृति का इतिहास

ले०—श्री पं० भगवद्दत्तजी रिचर्च स्कालर

भारतीय संस्कृति का इतना सजीव चित्रण आज तक किसी लेखक ने नहीं किया। इसकी एक-एक पंक्ति प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर लिखी गई है। भाषा बड़ी सरल एवं प्रवाहयुक्त है। आफसेट कागज पर सुन्दर छपी सजिल्द पुस्तक का मूल्य केवल ६) रुपये

गोविन्दराम हासानन्द (आ) नई सड़क दिल्ली ६

श्रावणी संवत् २०२३

'वेद' का संदेश सर्वत्र गुंजाने के लिए

- 'आर्योदय के सदस्य बनें
- अपने नगर में एजेंसी लें
- अपने मित्रों को सदस्य बनाएं

वार्षिक मूल्य ८) -- एक प्रति २० पैसे

हम आप के सहयोग की प्रतीक्षा कर रहे हैं

व्यवस्थापक "आर्योदय" हिन्दी साप्ताहिक
१५ हनुमान रोड, नई दिल्ली-१

श्रावणी पर्व पर अधिक से अधिक
वैदिक साहित्य बांटिए ।

वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना
सुनाना प्रत्येक आर्य का परम धर्म है

अतः शक्ति भर 'वेद' का प्रचार करें ।

संसार से ईसाइयत का विष समाप्त कीजिए

★

	मूल्य पैसे	सैकड़ा	हजार
१. A Challenge to the Christian Faith	१५	६)	५०)
२. Christianity Unmasked	५०	२०)	१७५)
३. The Charistian Love ?	१५	६)	५०)
४. The Conflict Between Science and Christianity			
५ ईसाई मत की वास्तविकता	१०	५)	३५)
६. पादरियों को चुनौती	१०	५)	३५)
७. ईसाइयों की प्रचार प्रणाली	१०	५)	३५)

८. पादरियों से ३६ प्रश्न मूल्य ५ पैसे । ८) के २५०। १२) के ५००। २०) हजार

मंगाने के नियम :

१. आदेश का चौथाई धन आदेश के साथ अवश्य भेजें ।

२. रेलवे स्टेशन का नाम अवश्य लिखें ।

व्यवस्थापक "आर्योदय"

१५ हनुमान रोड, नई दिल्ली - १

आर्य समाज का प्रभावशाली अंग्रेजी साहित्य

1. Message of the Arya Samaj to the universe

भारतेन्द्र नाथ 'साहित्यालकार' ।लखित प्रसिद्ध ट्रैक्ट विश्व को आर्य समाज का संदेश, जिसके गत वर्ष ३ संस्करण निकल चुके हैं, का यह अंग्रेजी अनुवाद आर्य समाज की विचार धारा को प्रत्येक मनुष्य तकपहुँचा कर उसके विचार परिवर्तन का सबल साधन है। विदेशों की मांग पर विशेष रूप से तैयार कराया गया है। आप भी इसे अपने नगर के अंग्रेजी पढ़े लिखे व्यक्तियों को दीजिए, निश्चित रूप से उनके विचारों में भारी परिवर्तन होगा। पृष्ठ ३२। बढ़िया कागज। मूल्य २५ पैसे। १५) सैकड़ा। १००) हजार।

2. I Pray to Thee

संध्या, हवन मन्त्र, प्रार्थना मन्त्र और ईशोपनिषद का स्वामी भूमानन्द जी कृत अंग्रेजी अनुवाद, वैदिक उपासना विधि का परिचय सभी को कराता है। अंग्रेजी भाषी क्षेत्र में यह वैदिक सत्संग-गुटका का कार्य करेगा। मूल्य ५० पैसे। २५ रुपए सैकड़ा।

3. Message of Swami Dayananda

जिसके लेखक हैं राष्ट्र के प्रसिद्ध विद्वान् डा० यदुनाथ सरकार एम० ए० पी० एच० डी० भूतपूर्व अध्यक्ष-इतिहास विभाग कलकत्ता विश्वविद्यालय।

महर्षि दयानन्द के जीवन और उद्देश्यों से परिचित कराने वाला यह ट्रैक्ट अत्यन्त प्रभावशाली है। पृष्ठ १६। बढ़िया कागज। मूल्य १५ पैसे और ८) सैकड़ा। ६०) हजार।

4. The Vedas

६४ पृष्ठों की इस अंग्रेजी पुस्तिका में वेदों के प्रचार के लिए उत्कृष्ट प्रचार सामग्री है। मैक्समूलर ने वेद का जो अहित किया उसका सत्य और प्रभावपूर्ण परिचय Veda & Maxmuller निबन्ध में पढ़िए। ईसाइयत का खोखलापन Veda & Bible निबन्ध में प्रकट हो रहा है। इसके अतिरिक्त श्री गङ्गाप्रसाद जी उपाध्याय का Vedic Philosphy और दो अन्य प्रभावपूर्ण निबन्ध बुद्धिजीवी वर्ग का मस्तिष्क बदलने का सामर्थ्य रखते हैं।

प्रत्येक आर्य समाज से हमारा आग्रह है कि इस पुस्तिका को अपने नगर के उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों, अधिकारियों, विद्वानों तक अवश्य पहुँचाएं। मूल्य ५० पैसे। २५) सैकड़ा।

१—आदेश के साथ चौथाई धन भेजें। २—रेलवे स्टेशन का नाम अवश्य लिखें।

व्यवस्थापक 'आर्योदय' १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली - १

५५० निराश्रित-पितृविहिन बालक-बालिकाओं को

राष्ट्र का सुयोग्य नागरिक

बनाने में कृतसंकल्प है—

●

स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती द्वारा संस्थापित

आर्य-बाल-गृह
आर्य-बालिका-गृह

पाटौदी हाउस दरियागंज दिल्ली

★

इनके भोजन—निवास—शिक्षा पर होने वाले भारी व्यय का दायित्व प्रत्येक भारतीय पर है।

★

अतः दान के किसी भी अवसर पर सर्वप्रथम इस महान् समाज—सेवी संस्था को स्मरण रखिए

अधिक से अधिक सहायता भेजें

★

देसराज चौधरी	शिवचरणदास	महेन्द्रकुमार शास्त्री
प्रधान	मन्त्री	अधिष्ठाता

आर्य बाल-गृह व आर्य बालिका-गृह

पाटौदी हाउस दरियागंज, दिल्ली - ६

वैदिक धर्म प्रचार के लिए

अधिक से अधिक मंगाएँ

१. वैदिक सिद्धान्त

लेखक—स्व० पं० चमूपति एम० ए०—वैदिक सिद्धान्तों पर लिखे स्वर्गीय विद्वान् के निबन्धों का यह संग्रह वैदिक विचारधारा के प्रसार के लिए अत्यन्त उपयोगी है। पृष्ठ १०० के लगभग, बढ़िया कागज, आकर्षक आवरण, मूल्य १) मात्र। १० प्रतियों का ७)। २५ प्रतियों का १४)। ५० प्रतियों का २६)। १०० प्रतियों का ५०)।

२. मुक्ति और उसके साधन

प्रसिद्ध आर्य विद्वान् पं० मदनमोहन विद्यासागर लिखित आध्यात्मिक ग्रन्थ। मूल्य १)। १० प्रतियों का ७)। २५ प्रतियों का १४)। ५०) प्रतियों का २६) १०० प्रतियों का ५०)।

३. आर्य समाज की विचारधारा

पं० क्षितीशकुमार वेदालंकार सह-सम्पादक दैनिक हिन्दुस्तान लिखित अनुपम ट्रैक्ट। पृष्ठ १६। बढ़िया कागज। मूल्य १० पैसे। ८) सैकड़ा। १५) के २५०। २८) के ५००। ५०) के एक हजार।

४. आर्य समाज क्या मानता है?

डा० कृष्णबल्लभ पालीवाल एम० एस-सी०, पी-एच० डी० रीडर राजस्थान विश्वविद्यालय लिखित १६ पृष्ठों का ट्रैक्ट प्रत्येक अवसर पर प्रचार के लिए। मूल्य ५) सैकड़ा। १०) के २५०। २५) हजार।

मंगाने के नियम :

१. आदेश का चौथाई धन आदेश के साथ अवश्य भेजें।
२. रेलवे स्टेशन का नाम अवश्य लिखें।

व्यवस्थापक "आर्योदय" १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली—१


गुरुकुल कांगड़ी का
च्यवनप्राश
विविध प्रकार की कमजोरियों से रक्षा करता है
हिमालय के
ताज़े आँवलों से निर्मित
प्राकृतिक
विटामिन सी, लौह
तथा
कैलशियम से भरपूर
गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, हरद्वार

श्रावणी संवत् २०२३

'संसार के पुस्तकालय में ऋग्वेद प्राचीनतम ग्रन्थ है।' संसार का ऐसा कोई ज्ञान नहीं, जो ऋग्वेद में न हो। दार्शनिक, भौतिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, सांसारिक आदि सभी विषयों का समावेश ऋग्वेद में है। अतः—

यदि आप जानना चाहते हैं

कि

(१) ऋग्वैदिक दार्शनिकता क्या है?

(२) ऋग्वैदिक समाजशास्त्र क्या है?

(३) ऋग्वैदिक भौतिकशास्त्र कैसा है?

(४) ऋग्वैदिक अध्यात्मविद्या क्या है?

(५) ऋग्वेद का सांराश क्या है?

तो अवश्य ग्राहक बनिये—

म. म. पं. श्री. दा. सातवलेकर कृत

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

(चार भागों में)

प्रकाशन कार्य आरम्भ हो गया है। मन्त्र, अर्थ भावार्थ तथा हर मण्डल के अन्त में उस मण्डल का सारांश एवं कठिनस्थलों का स्पष्टीकरण सभी कुछ पठनीय होगा। साइज–डबल क्राऊन ८ पेजी, सुन्दर कागज, पृष्ठ संख्या २५०० से ज्यादा, मूल्य मात्र २०) रु० प्रत्येक भाग, पर—

(१) जो पेशगी धन भेज कर इस ग्रन्थ के ग्राहक होंगे, उन्हें केवल ६०) में चारों भाग मिल सकेंगे।

(२) जो ग्राहक चारों भाग एक साथ खरीदेंगे, उन्हें इस ग्रन्थ के कुल मूल्य ८०) रु० पर २०% कमीशन दिया जाएगा।

(३) जो इस ग्रन्थ के कम से कम ७ ग्राहक बनाएंगे उन्हें लेखक के हस्ताक्षर के साथ चारों भाग मुफ्त भेंट स्वरूप दिए जाएगे।

विशेष विवरण के लिए लिखें—

व्यवस्थापक

स्वाध्याय-मण्डल पारडी,

पोस्ट—'स्वाध्याय-मण्डल (पारडी),' पारडी (जि० बलसार)

आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब

का प्रचार योग्य साहित्य

१.	कुलियात आर्य मुसाफिर (हिन्दी अनुवाद पं० लेखराम)	६-००
२.	वैदिक सत्संगपद्धति (संध्या हवन, प्रार्थना मन्त्र अर्थ सहित)	०-४०
३.	धर्मवीर पं० लेखराम जीवन चरित्र (लेखक स्वामी श्रद्धानन्द)	१-२५
४.	बलिदान जयन्ती स्मृति ग्रन्थ (आर्य शहीदों की कहानी)	४-५०
५.	उर्दू सत्यार्थप्रकाश (अनु. पं० चमूपति जी एम. ए.)	३-५०
६.	वेदों का यथार्थ स्वरूप (ले. पं. धर्मदेव जी विद्या भार्तण्ड)	६.५०
७.	Principles of the Arya Smaj (चमूपति एम ए.)	१ ५०
८.	नीहारिकावाद और उपनिषद (ले. चमूपति जी एम. ए.)	०-२५
९.	विश्व को आर्य समाज का सन्देश (पं० भारतेन्द्रनाथ)	०-१०
१०.	आर्य नेताओं के वचनामृत (पं. साईदास जी ०-१२.	१०) सैकड़ा
११.	नानी की कहानियां (ले. विजय कृष्ण लखन पाल एम. ए.)	३-००
१२.	दयानन्द गाथा (ले. डा. निरंजनसिंह जी चौहान)	०-३५
१३.	मैं और मेरा भगवान (ले. पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय)	१-५०
१४.	आत्मध्वनि (ले. श्री प्रेमप्रकाश जी प्रेम)	०-७५
१५.	वैदिक सत्संग पद्धति ०-५० । १६. सत्यार्थ प्रकाश	३-००
१७.	सामदेव भाष्य (ले. आचार्य वीरेन्द्र जी शास्त्री एम. ए.)	६-००
१८.	पंजाब का आर्य समाज (ले. रामचन्द्र जी जावेद एम. ए.)	२-००
१९.	स्वतन्त्रतानन्द लेख माला (ले. स्वामी स्वतन्त्रतानन्द जी)	१-२५
२०.	आत्मानन्द लेख माला (ले. स्वामी भात्मानन्द जी)	१-२५
२१.	सुशीला गीत संग्रह (ले. सुशीला आर्या एम. ए.)	१-००
२२.	सनातन धर्म (ले. पं. गंगाप्रसाद जी उपाध्याय)	०-८०
२३.	सन्ध्या क्या क्यों, कैसे (ले. पं. गंगाप्रसाद जी उपाध्याय)	२-००
२४.	मूर्तिपूजा वेद विरुद्ध (ले. जे. पी. चौधरी)	०-७५

आर्य समाजों को उचित है कि भारी संख्या में पुस्तकें मंगाकर वेद प्रचार करें

व्यवस्थापक—चमूपति साहित्य प्रकाशन विभाग १५ हनुमान रोड नई, दिल्ली-१



अपने नगर में गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी की एजेंसी लीजिए

●

धन भी कमाएं और सेवा भी करें

●

व्यवस्थापक—गुरुकुल कांगड़ी

फ़ार्मेसी P. O. गुरुकुल कांगड़ी (सहारनपुर)

● सुहागन कौन ?

केवल विवाह हो जाने से ही स्त्री सुहागन नहीं बन जाती। (१) सो सुहागन कहलाये, जो पिया मन भाये। जो पति को प्रसन्न रखने के २६ नियम जाने। (२) जो सास ससुर जेठ ननद आदि से आदर पाने के १५ नियम जानती हो। (३) जो घर के प्रबन्धादि में ३३ कर्त्तव्यों का पालन करती हो। जो हठी और कटुभाषणी न हो। (५) जिसे सन्तान का पालन पोषण आए। साधारणत: स्त्रियां इतनी बातें कहां जानती हैं। उन्हें 'पत्नी-पथ-प्रदर्शक' पढ़ने को दें, तो वे सब गुणों की स्वामिनी बनकर सच्ची सुहागन कहलाएं। पति का भला इसी में है कि पत्नी को यह पुस्तक अवश्य पढ़ाए। हिन्दी, उर्दू, गुरुमुखी में मूल्य २) है !

● कोई वंचित न रहे !

इस संसार में किसमें कोई कमी नहीं ? किसको कुछ जानने की आवश्यकता नहीं ? यह विचार झूठा है कि आप सब कुछ जानते हैं। इस मिथ्या विचार के कारण आप एक बहुत लाभदायक पुस्तक पढ़ने से अपने आपको वंचित रख रहे हैं। कोई पुस्तक किसी विशेष गुण के बिना चार लाख की भारी संख्या में नहीं बिक सकती। 'विवाहित आनन्द' पांच हजार पतियों की आपबीती का निचोड़ है, क्रियात्मक शिक्षाओं, रहस्य की बातों और लाभदायक उपदेशों का बहुमूल्य भण्डार है। मूल्य हिन्दी, उर्दू, गुरुमुखी, अंग्रेजी २), तिलगू २।), सस्ता संस्करण हिन्दी, उर्दू १।); भेंट-संस्करण २।।) अब तक ४।। लाख बिक चुका है।

● स्वास्थ्य-शिक्षा

स्वास्थ्य के सभी अंगों पर प्रकाश डालने और इस विषय में पग २ पर पथ प्रदर्शन करने में यह अद्वितीय पुस्तक छोटे बड़े सब स्त्री पुरुषों के लिए अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुई है। कहते हैं—'जान है तो जहान है।' सच पूछिये तो स्वास्थ्य का दूसरा नाम 'जान' है। जान और जहान (जीवन और संसार) का आनन्द 'स्वास्थ्य-शिक्षा' की शिक्षाओं पर आचरण करने में है। इस पुस्तक की साधारण २ शिक्षाओं में स्वास्थ्य की समस्त उलझनों का सरल और सीधा हल मिलेगा। मूल्य हिन्दी, उर्दू २)

❀ यह पुस्तकें भारत भर के पुस्तक विक्रेता बेचते हैं। ❀
❀ किसी के पास समाप्त होंगीं, तो आपको मंगवा देगा। ❀

कविराज हरनामदास बी.ए. एण्ड सन्ज़ चांदनी चौक दिल्ली


पायोकिल
दाँतों और मसूड़ों के
लिये श्रेष्ठ दन्त मंजन
शक्ति एवं स्फूर्ति-
दायक सुमधुर पेय
गुरुकुल
द्राक्षासव
गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, हरिद्वार



दृढ़ निश्चय कीजिये
अपनी आँखों की सुन्दरता के लिये
भीमसेनी काजल
ही प्रयोग करें
यह आपकी आँखों को निरोग और उन्हें अधिक सुन्दर बनाता है
मुरारी ब्रदर्स
कमला नगर, देहली-६
BHIMSAINI KAJAL
MURARI BROTHERS



यह सब क्यों ?
सिर दर्द, माथे पर झुर्रियां, आंखों के नीचे काली रेखाएँ उठते बैठते नेत्रों के सामने अंधेरा...
क्या आपने कभी सोचा यह सब क्यों है ?
यह आंखों के सम्बन्ध में आपकी असावधानी का परिणाम है।
NAG JYOTI
नाग ज्योति
आँखों को ताकत देता है निरोग बनाता है तथा ज्योति बढ़ाकर चशमा हटाता है।
मुरारी ब्रदर्स कमला नगर, देहली-६

पुस्तक परिचय

प्रार्थना प्रदीप—लेखक, श्री नित्यानन्द पटेल। प्रकाशक गोविन्दराम हासानन्द नई सड़क दिल्ली। पृष्ठ २३२। मूल्य २)। छपायी कागज़ बढ़िया।

'प्रार्थना-दीप' हृदय में घर किये बैठी संकुचितताओं के तमस् को छिन्न भिन्न करके, इस पृथ्वी पर के जीवन को संस्कारिता-समृद्ध बनाने की राह बताता है। इसलिए यह दीप, मेरी दृष्टि में विशेष अभिनन्दन योग्य है।

'प्रार्थना-दीप' पुस्तक को जो पढ़ेगा, वह इसकी प्रशंसा किए बिना न रह सकेगा। क्योंकि इसमें विद्वानों, साधारण पुरुषों, स्त्रियों तथा विद्यार्थियों सबके लिए उपयुक्त सामग्री विचार-पूर्वक एकत्र की गई है। साथ ही लेखक गम्भीर विषयों को रसप्रद शैली में प्रस्तुत करने में सिद्धहस्त है।

किला पारडी (सूरत) —दामोदर जी सातवलेकर